संतशिरोमणि सद्गुरु कबीर की विवेकधारा से अनुप्राणित

पारख प्रकाश

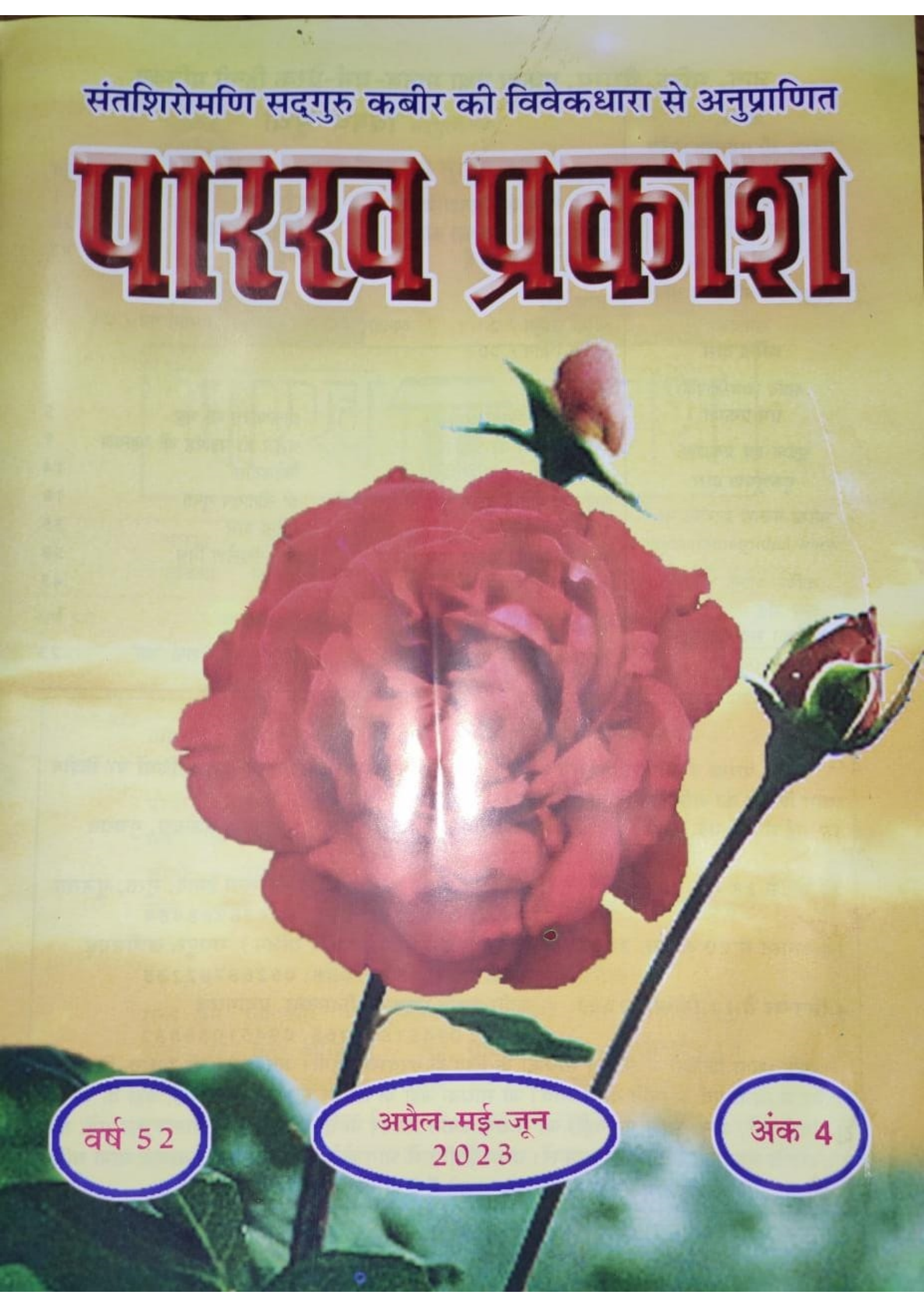

वर्ष 52

अप्रैल-मई-जून
2023

अंक 4

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, एकता तथा मानव-धर्म-प्रेरक हिन्दी पत्रिका

विषय-सूची

प्रवर्तक
सद्गुरु श्री रामसूरत साहेब
श्री कबीर मन्दिर, बड़हरा
पोस्ट—मद्दोबाजार
जिला—गोंडा, उ०प्र०

आदि संपादक
सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब

संपादक
धर्मेन्द्र दास

आदि व्यवस्थापक
प्रेम प्रकाश

मुद्रक एवं प्रकाशक
गुरुभूषण दास

पारख प्रकाश इंटरनेट पर
www.kabirparakh.com

वार्षिक शुल्क : 60.00
एक प्रति : 16.00
आजीवन सदस्यता शुल्क
1600.00

	लेखक	पृष्ठ
कविता		
मन न रंगाये जोगी कपड़ा रंगाये	सद्गुरु कबीर	1
आओ धर्म की कुछ बात कर लें	हेमंत हरिलाल साहू	38
दिल में खुदा बसाये हैं	जितेन्द्र दास	42

स्तंभ
पारख प्रकाश / 2 व्यवहार वीथी / 16 परमार्थ पथ / 21
बीजक चिंतन / 30

लेख		
जब अपवित्र विचार घेरते हैं!	श्रीकृष्णदत्त जी भट्ट	5
ध्यान : जीवन की पद्धति	श्रद्धेय श्री महाप्रज्ञ जी महाराज	9
अच्छा सोचें : सुख से जियें	विवेकदास	14
दुर्लभ ही होते हैं दुर्लभ गुणों से युक्त व्यक्ति	श्री सीताराम गुप्ता	18
भजन क्या है?	धर्मेन्द्र दास	35
सुख के रैपर में दुःखद 'राम खुदैया'	श्री अखिलेश मिश्र	39
सावधानी ही साधना है		43
कहानी		
खुदाराम	पा[illegible]वन शर्मा 'उग्र'	23

विशेष ध्यान शिविर

कबीर पारख संस्थान, प्रयागराज के तत्त्वावधान में निम्न स्थलों पर निम्नांकित तिथियों पर विशेष ध्यान शिविर का आयोजन किया जा रहा है—

17 मई से 21 मई, 2023 : कबीर पारख आश्रम, धरमपुरी (डभोई), वडोदरा, गुजरात
सम्पर्क : 09427849332

24 मई से 28 मई, 2023 : श्री कबीर पारख आश्रम, ग्रा.पो.–सणिया हेमाद, सूरत, गुजरात
सम्पर्क : 09427153838, 09428868484

14 अगस्त से 20 अगस्त, 2023 : श्री कबीर संस्थान, नवापारा (राजिम), रायपुर, छत्तीसगढ़
सम्पर्क : 09165283688, 06263782235

4 सितम्बर से 11 सितंबर, 2023 : कबीर पारख संस्थान, प्रीतमनगर, प्रयागराज
सम्पर्क : 09451369965, 09451059832

उक्त ध्यान शिविरों में सीमित साधकों के लिए ही व्यवस्था रहेगी। अतः कोई भी साधक किसी भी शिविर में बिना पूर्व अनुमति के न आवें। जो साधक जहां के शिविर में भाग लेना चाहें, वहां के पते पर ही संपर्क करें, अन्य स्थल पर नहीं। जो साधक ध्यान शिविर के दौरान पूर्ण मौन पालन कर सकें तथा पूरी अवधि तक रुक सकें वे ही भाग लें। ध्यान शिविर में भाग लेने वालों का शहर, बाजार जाना वर्जित रहेगा। जो लोग मोबाइल पूरी तरह से बंद रख सकते हैं वे ही ध्यान शिविर में भाग लें।

R.N.I.'s Regd. No. 18528/71

Postal Regd. No. A.D. 253/2000

फार्म- 4

'पारख प्रकाश' त्रैमासिक पत्र के संबंध में विवरण

1. प्रकाशन स्थल	प्रीतम नगर, प्रयागराज-211011	6. समस्त पूंजी का स्वामी	: कबीर पारख संस्थान पंजीकृत सोसायटी प्रीतम नगर, प्रयागराज
2. प्रकाशन अवधि	त्रैमासिक	राष्ट्रगत संबंध	
3-4. मुद्रक/प्रकाशक का नाम	गुरुभूषण दास	पता	
राष्ट्रगत संबंध	भारतीय		
पता	प्रीतम नगर, प्रयागराज-211011		
5. संपादक का नाम	धर्मेन्द्र दास		
राष्ट्रगत संबंध	भारतीय		
पता	प्रीतम नगर, प्रयागराज-211011		

मैं गुरुभूषण दास एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर लिखी बातें पूर्णतया सत्य हैं।

दिनांक : 1-4-2023

(कबीर पारख संस्थान के लिए)
गुरुभूषण दास
प्रकाशक

निवेदन

1. पारख प्रकाश प्रतिवर्ष जनवरी, अप्रैल, जुलाई एवं अक्टूबर में प्रकाशित होता है। यदि इन महीनों की आखिरी तारीख तक आपको अंक न मिले, तो इसकी शिकायत अवश्य भेजें, ताकि आपको दूसरी प्रति भेजी जा सके। देर से शिकायत मिलने पर दूसरी प्रति भेजने में हमें काफी असुविधा होती है।

2. आशा है यह पत्रिका आपके लिए रुचिकर, ज्ञानवर्धक एवं प्रेरणादायी सिद्ध हुई होगी तथा आगे भी आप इसके ग्राहक बने रहना पसन्द करेंगे और दूसरों को भी इसके ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करेंगे। इसे अधिक स्थायी तथा नियमित बनाने के लिए आप स्वयं इसके आजीवन ग्राहक तो बनें ही दूसरों को भी आजीवन ग्राहक बनने के लिए प्रेरित करें।

3. यदि आपका शुल्क इस अंक के साथ समाप्त हो रहा है तो अगले अंक के लिए अपना शुल्क यथाशीघ्र भेज दें, जिससे अगला अंक आपको समय से मिल सके। पत्र तथा शुल्क भेजते समय अपना ग्राहक नं० अवश्य लिखें।

एक प्रति 16 रुपये | वार्षिक 60 रुपये | आजीवन 1600 रुपये

लेख, कविता, सदस्यता-शुल्क भेजने तथा सब प्रकार के पत्र व्यवहार का पता

पारख प्रकाश
संत कबीर मार्ग, प्रीतमनगर
प्रयागराज–211011 (उ. प्र.)
Vist us : www.kabirparakh.com
E-mail : kabirparakh@yahoo. com

ग्राहक नं०

कबीर पारख संस्थान के लिए गुरुभूषण दास द्वारा प्रकाशित एवं इण्डियन प्रेस, प्रा. लि., पन्नालाल रोड, प्रयागराज से मुद्रित

कबीर संस्थान के नये प्रकाशन

1. **धरती पर स्वर्ग** : लेखक—सद्गुरु श्री अभिलाष साहेब—प्रायः लोग मरने के पश्चात स्वर्ग जाने की कामना करते हैं और मानते हैं कि स्वर्ग कहीं आकाश में है, परंतु यह सिर्फ एक कल्पना है। प्रस्तुत पुस्तक 'धरती पर स्वर्ग' में यह बताया गया है कि प्राणिमात्र के साथ दया, करुणा तथा प्रेमपूर्ण सद्गुण-सदाचारमय व्यवहार-आचरण करके इसी धरती को स्वर्ग से सुंदर बनाया जा सकता है। यह पुस्तक पूज्यवर सद्गुरु अभिलाष साहेब जी के प्रवचनों का संकलन है। मूल्य-150 रुपये।

2. **जीवन जीने की कला** : लेखक—धर्मेन्द्र दास—प्रेम जीवन जीने की सर्वोत्तम कला है। प्रस्तुत पुस्तक में विभिन्न ढंग से यह बताया गया है कि मिठाई में जो स्थान शकर का है, भोजन में जो स्थान नमक है, आपसी जीवन व्यवहार में वही स्थान प्रेम का है। प्रेमपूर्ण व्यवहार से मनुष्य अपने जीवन को तथा अपने घर-परिवार को नंदन-कानन तथा स्वर्गमय बना सकता है। मूल्य-120 रुपये।

3. **आत्म विकास के साधन** : लेखक—धर्मेन्द्र दास—वैज्ञानिक एवं भौतिक विकास की दौड़ में मनुष्य अध्यात्म को यानी भुला दिया है या तो नजरअंदाज कर दिया है । जबकि हकीकत यह है कि आध्यात्मिक विकास के बिना कोई भी भौतिक विकास मनुष्य को कभी मानसिक प्रसन्नता एवं शांति-सुख का अनुभव नहीं करा सकता । आध्यात्मिक विकास के लिए क्या-कौन-सा साधन अपेक्षित है, 'आत्म विकास के साधन' नामक इस पुस्तक में इसी विषय का वर्णन है। मूल्य-100 रुपये।

4. **संत कबीर का मानव धर्म** : लेखक—धर्मेन्द्र दास—सद्गुरु कबीर की एकमात्र मंशा यही थी कि मनुष्य अपने बनाये जाति-वर्ण-वर्ग तथा मत-मजहब-संप्रदाय जनित घेरे से निकले और अहं-हीनत्व की भावना त्यागकर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से मनुष्य बनकर मिले और मनुष्यता का व्यवहार करे। सद्गुरु कबीर का धर्म मानव धर्म है और मानव धर्म ही सर्वोपरि धर्म है, इसी तथ्य को 'संत कबीर का मानव धर्म' नामक इस पुस्तक में निरूपित किया गया है। मूल्य-90 रुपये।

5. **मुक्ति का प्रवेश द्वार** : लेखक—धर्मेन्द्र दास—जाने-अनजाने हर व्यक्ति के मन में मुक्ति या मोक्ष की अभिलाषा [illegible] मुक्ति या मोक्ष का [illegible] अर्थ है दुख-बंधन-परतंत्रता से छुटकर मन का हर समय शांत-संतुष्ट-तृप्त [illegible] यह मरने के बाद की स्थिति नहीं है किंतु इसी जीवन की स्थिति है। और यह स्थिति आत्मज्ञान [illegible] कर सबसे निस्स्वार्थ सेवा एवं प्रेम का व्यवहार करते हुए सबसे सब समय निर्मोह, निष्काम एवं अनासक्त रहने से प्राप्त होती है। 'मुक्ति का प्रवेश द्वार' नामक इस पुस्तक में इसी तथ्य का निरूपण किया गया है। मूल्य-100 रुपये।

6. **सत्संग और साधना** : लेखक—धर्मेन्द्र दास—सत्संग का परिनिष्ठित अर्थ है—सत्य का संग। परम सत्य मनुष्य का अपना आपा, स्व चेतन सत्ता है। अतः अपनी आत्मा में लौट आना, आत्मस्थित हो जाना ही सत्संग है और इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है। साधना का अर्थ है ऐसा आचरण, ऐसी रहनी जिससे मन के विकार, चंचलता-बहिर्मुखता मिटकर मन निर्मल-निर्विकार होकर संयत-अंतर्मुख हो जाये। इस पुस्तक में इसी विषय का वर्णन किया गया है। मूल्य-120 रुपये।

7. **सुख-समृद्धि की 100 कहानियां** : लेखक—हीरेन्द्र दास—कहानियां चाहे काल्पनिक हों चाहे सत्य घटनाओं पर आधारित उनमें प्रेरणा एवं शिक्षा होती हैं तथा लोकहित की भावना निहित होती है। इसी लोकहित की भावना रखकर लेखक ने इसमें 100 कहानियों का संकलन किया है। जो प्रेरक भी हैं और मार्मिक भी। मूल्य-75 रुपये।

8. **मुक्ति का मार्ग (पद्य संग्रह)** : लेखक—हीरेन्द्र दास—इस पुस्तक में लेखक द्वारा रचित 150 पदों का संकलन है। मूल्य-65 रुपये।

सद्गुरवे नमः

को हिन्दू को तुरुक कहावै,
एक जिमी पर रहिये
—सन्त कबीर

पारख बिन परचै नहीं, बिन सत्संग न जान।
दुबिधा तजि निर्भय रहे, सोई सन्त सुजान॥ बीजक, पाठफल॥

वर्ष 52] प्रयागराज, बैसाख, वि. सं. 2080, अप्रैल 2023, सत्कबीराब्द 624 [अंक 4

मन न रंगाये जोगी कपड़ा रंगाये,
मन ना फिराये जोगी मनका फिराये॥ टेक॥
आसन मारि गुफा में बैठे, मनुवा चहुँ दिशि धाये।
भवतारक घट बीच बिराजै, खोजन तीरथ जाये॥ 1॥
पोथी बाँचे यज्ञ करावै, भक्ति कहूँ नहिं पाये।
मन का मणका फेरे नाहीं, तुलसी माला फिराये॥ 2॥
जोगी होके जागा नाहीं, चौरासी भरमाये।
जोग जुगत सों दास कबीरा, अलख निरंजन पाये॥ 3॥

× × ×

साधो सो सतगुरु मोहि भावै॥ टेक॥
सत्य प्रेम का भरि भरि प्याला, आप पिये और पियावै॥ 1॥
परदा दूर करे अँखियन का, ब्रह्म दरश दिखलावै॥ 2॥
जिस दरशन को सब जन तरसे, घट बीच ताहि दिखावै॥ 3॥
एक ही सब सुख दुख दिखलावै, शब्द में सुरति समावै॥ 4॥
कहत कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परखावै॥ 5॥

पारख प्रकाश

अब कहु राम नाम अविनाशी

सद्गुरु कबीर कहते हैं—

अब कहु राम नाम अविनाशी।
हरि छोड़ि जियरा कतहुँ न जासी॥

(बीजक, रमैनी 20)

अर्थात ऐ लोगो! अब तुम अविनाशी राम का नाम कहो और हरि को छोड़ कर कहीं अन्यत्र न जाओ।

यह सब जानते हैं कि सद्गुरु कबीर जिस अविनाशी राम का नाम कहने-जपने को कह रहे हैं वह राम न अवधनरेश राम है और आकाशीय-अलौकिक राम है, किन्तु वह राम घट-घट में विराजमान हृदयनिवासी है। और साथ ही यह भी कि वे रट्टू सुग्गावत राम का नाम जपने को नहीं कहते। उसका तो वे स्पष्ट खंडन करते हैं। यहां उनका अविनाशी राम का नाम कहने का अर्थ है विनाशी अनात्म प्राणी-पदार्थों का चिंतन एवं मोह छोड़कर अविनाशी आत्मतत्व का चिंतन एवं उसमें अनुराग करना।

मनुष्य जितना ही विनाशी अनात्म प्राणी-पदार्थों का चिंतन करेगा और उनमें मोह-राग करेगा उतना ही उसकी चित्तवृत्ति बहिर्मुख एवं चंचल बनेगी और उतना ही वह दुख-शोक के सागर में डूबता जायेगा। इसके विपरीत जितना वह अविनाशी आत्मतत्त्व-स्वस्वरूप का चिंतन एवं उसमें अनुराग करेगा उतना उसकी चित्तवृत्ति अंतर्मुख एवं एकाग्र-शांत होती जायेगी और उतना ही वह सुख-शांति-आनंद का अनुभव करता जायेगा। स्वामी शंकराचार्य विवेक चूडामणि में कहते हैं—

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम्।
चिन्तयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम्॥

(विवेक चूडामणि, 378)

अर्थात मूर्च्छा, मलिनता एवं दुखकारक अनात्म-चिंतन का त्यागकर आनंदस्वरूप आत्मतत्त्व का चिंतन करो, जो मुक्ति का कारण है।

उक्त पंक्ति में सद्गुरु कबीर कई बातों की तरफ निर्देश करते हैं। पहली बात है क्या बोलना और कहना है। यह सब जानते हैं कि पूरी दुनिया में मनुष्य के पास ही वाणी-बोलने की शक्ति-क्षमता-योग्यता है, परंतु कब, क्या, कितना, कैसे और किससे बोलना-कहना है यह कला बिरले लोगों के पास होती है। अधिकतम लोग तो सुबह से शाम तक अनावश्यक, अनुपयोगी, दुनियादारी राग-रंग, मोह-माया, विषय-वासना, कलह-कल्पना, लड़ाई-झगड़ा, राग-द्वेष, निंदा-चुगली आदि की ही बातें बोलते-कहते रहते हैं, जिससे कहने वाले और सुननेवाले दोनों का मन चंचल, विकारी, उत्तेजित, बहिर्मुख एवं अशांत बना रहता है। यह नियम है कि— सोई कहंता सोइ होउगे। (बीजक, रमैनी साखी 24) अर्थात मनुष्य जैसा कहेगा-सुनेगा वैसा उसका जीवन बनता चला जाता है।

अविनाशी राम का नाम कहने का अर्थ दिनभर राम-राम रटना नहीं है अपितु सार्थक और स्व-पर के लिए सुखद एवं हितकर बातें कहना है। साथ ही ऐसी बातें कहना है जिससे कहने और सुननेवाले दोनों के मन के विकार-उत्तेजना दूर होकर दोनों का मन शांत-संयत, एकाग्र हो। इसी के लिए सद्गुरु कबीर कहते हैं—

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय॥

मनुष्य के मन में अनादिकालीन विषय-वासना के ही संस्कार कुट-कुटकर भरे हैं और मनुष्य जितना सांसारिक राग-रंग, मोह-माया एवं विषय-विकार की बातें कहता-सुनता है उतना ही यह संस्कार और अधिक पुष्ट होता जाता है। फिर मन उधर से हटना नहीं चाहता। उन्हीं बातों का चिंतन-मनन करता रहता है। यही मनुष्य के मानसिक उत्तेजना, तनाव, दुख, संताप एवं बंधन का कारण है। जो व्यक्ति इस मानसिक उलझन, तनाव एवं दुख से बचना चाहता है उसे चाहिए कि वह सांसारिक राग-रंग, मोह-माया एवं विषय-विकार जन्य बातें न कह-सुनकर तथा अनात्म चिंतन को त्यागकर विवेक-विचारपूर्ण, ज्ञान-वैराग्यवर्धक बातें कहे-सुने तथा आनन्दस्वरूप निर्मल आत्मतत्त्व का ही

चिंतन-मनन करें। यही अविनाशी राम का नाम कहना है।

दूसरी बात संसार में दो तत्त्व हैं—एक विनाशी, दूसरा अविनाशी। शरीर से लेकर संसार तक, पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक जो कुछ दिखाई देता है सब परिवर्तनशील एवं विनाशी हैं। कुछ भी स्थिर एवं नित्य-शाश्वत रहने वाला नहीं है। यदि कुछ स्थिर, नित्य एवं शाश्वत रहने वाला है तो वह अविनाशी राम है और वह राम सबका अपना अस्तित्व, अपना आपा, स्वस्वरूप है। उसी राम को जीव, चेतन, आत्मा भी कहा जाता है। यह न किसी का अंश है और न किसी का अंशी। यह कारण-कार्य, व्याप्य-व्यापक भाव से रहित शुद्ध, बुद्ध, निर्मल-निर्विकार स्वयं नित्य-सत्य है। यह ध्यातव्य है कि जो स्वयं नित्य होगा वह अंश-अंशी, कारण-कार्य, व्याप्य-व्यापक भाव से रहित होगा।

यद्यपि मिट्टी, पानी, आग, हवा आदि जड़ तत्त्व भी स्वयं नित्य एवं शाश्वत हैं किन्तु ये कारण-कार्य भाव वाले एवं विकारी हैं। जड़ तत्त्व विकारी होने से ही इनसे नानाविध कार्य-पदार्थ बनते-बिगड़ते रहते हैं। निर्माण-विनाश का जो भी कारण होगा वह विकारी ही होगा, क्योंकि बिना विकार के निर्माण-विनाश संभव ही नहीं है। और जो स्वयं विकारी, परिवर्तनशील विनाशी है वह चिंतनीय एवं स्मरणीय नहीं हो सकता, क्योंकि विकारी, परिवर्तनशील एवं नाशवान के चिंतन-स्मरण से मन कभी निर्भय, शांत, संतुष्ट नहीं हो सकता और न निर्मल-निर्विकार हो सकता है। मन निर्मल-निर्विकार, निर्भय, शांत-संतुष्ट निर्विकार-अविनाशी के चिंतन-मनन-स्मरण से ही होगा और वह हर व्यक्ति का अपना आपा स्वस्वरूप ही है। इसीलिए सद्गुरु कबीर कहते हैं—अब कहु राम नाम अविनाशी।

यद्यपि हर व्यक्ति का जीवन-निर्वाह विकारी-नाशवान पदार्थों से ही होता है और जीवन-निर्वाहिक पदार्थ कर्म करने से प्राप्त होते हैं, इसलिए जीवन निर्वाहिक कर्म करणीय तो हैं, किन्तु वे नित्य मननीय, चिंतनीय एवं स्मरणीय नहीं हैं। नित्य मननीय-स्मरणीय तो अविनाशी-निर्विकार आत्मतत्त्व-स्वस्वरूप ही है। जीवन निर्वाहिक पदार्थ मात्र साधन हैं, साध्य नहीं; साध्य तो हैं आत्मशांति, आत्मतृप्ति एवं आत्मसंतुष्टि और वह बाह्य सब कुछ का स्मरण छोड़कर आत्मस्मरण-आत्मचिंतन से प्राप्त होगा। साधन की आवश्यकता एवं सार्थकता साध्य की प्राप्ति के लिए ही होती है। इसलिए साधन चाहे जितना भी बड़ा और मूल्यवान क्यों न हो उसे साध्य से बड़ा नहीं बनने देना है और न साध्य-प्राप्ति में बाधक बनने देना है। साधन चाहे जैसा भी हो एक दिन उसे विनष्ट होना ही है क्योंकि वह विनाशी-परिवर्तनशील तत्त्वों से ही बना है। और जो विनष्ट हो जाने वाला है, सदा साथ नहीं रहना है वह स्मरणीय नहीं हो सकता। स्मरणीय तो शाश्वत एकरस तत्त्व ही है। वह एकरस नित्य तत्त्व राम है। सद्-गुरु कबीर बीजक में ही अन्यत्र कहते हैं—कहहिं कबीर सारी दुनिया बिनसे, रहे राम अविनाशी हो। (बीजक, कहरा 8)

'सारी दुनिया बिनसे' का अर्थ यह नहीं है कि मिट्टी, पानी, पवन सहित इस अनंत ब्रह्माण्ड का विनाश हो जायेगा। अर्थ है दुनिया में जितनी भी निर्मित वस्तुएं हैं, जिनके लोभ-मोह में पड़कर मनुष्य अपनी वास्तविकता-हकीकत को भूल जाता है और दुष्कर्म में प्रवृत्त होकर अपना पतन कर लेता है, वे सब परिवर्तनशील-नाशवान हैं। एक दिन सबका विनाश हो जायेगा। सद्गुरु कबीर और भी कहते हैं—पानी पवन अकाश जायेंगे, चन्द्र जायेंगे सूरा हो। (बीजक, कहरा 8)। यहां 'पानी पवन अकाश जायेंगे' का अर्थ है पानी-पवन से निर्मित वस्तुएं। रूप-आकार बदलते हुए भी पानी-पवन नित्य हैं। उनका विनाश नहीं होगा क्योंकि वे नित्य अनादि-अनंत हैं। पानी-पवन का विनाश नहीं होता, उनसे निर्मित वस्तुओं का विनाश होता है।

मनुष्य का मन बहुत संवेदनशील है। मनुष्य हर समय कुछ न कुछ सोचता रहता है। और उसके सोचने का विषय विनश्वर प्राणी-पदार्थ ही होते हैं। यह तथ्य है कि जो मनुष्य जिसके बारे में ज्यादा सोचता है उसके मन में उतना ही या तो राग-मोह बनेगा या फिर द्वेष-वैर। जो प्राणी-पदार्थ अनुकूल, प्रियकर, सुखद जान पड़ते हैं उनका चिंतन जितनी गहराई से होगा राग-मोह उतना ही प्रगाढ़ होगा और जो प्राणी-पदार्थ प्रतिकूल, अप्रिय, दुखद जान पड़ते हैं उनका चिंतन जितनी गहराई से होगा द्वेष-वैर भी उतने ही प्रगाढ़ होंगे और वह उतना

ही दुखी, पीड़ित, उद्विग्न, अशांत एवं तनावग्रस्त होगा। वह कभी सच्ची सुख-शांति-प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिए कहा गया कि जीवन-निर्वाह में उपयोगी-आवश्यक पदार्थों का उपार्जन, उपयोग, रक्षा, व्यवस्था करते हुए भी उनका चिंतन-मनन न कर अविनाशी-निर्मल-निर्विकार राम का, आत्मतत्त्व, स्वस्वरूप का चिंतन-स्मरण करें।

दुनिया में दुख किसी को भी प्रिय नहीं है। हर मनुष्य हर समय सुख ही चाहता है और वह सुख भी एकरस तथा नित्य रहने वाला हो तथा उस सुख के पीछे वासना-तृष्णा की वृद्धि न हो, किन्तु वासना-तृष्णा घटती जाये और निर्मूल हो जाये, तो ऐसा सुख क्षणभंगुर, परिवर्तनशील, नाशवान, विकारी भोग पदार्थों से नहीं मिल सकता, क्योंकि क्षणभंगुर, परिवर्तनशील, नाशवान, विकारी भोग-पदार्थों से मिलने वाला सुख भी क्षणभंगुर, परिवर्तनशील, नाशवान एवं विकारोत्पादक ही होगा। एकरस नित्य सुख तो एकरस नित्य तत्त्व से मिल सकता है और वह एकरस नित्य तत्त्व हर व्यक्ति का अपना आपा है, जिसे सद्गुरु कबीर ने यहां राम कहा है और इसी के लिए कहा है—अब कहु राम नाम अविनाशी।

दुनिया में शरीर से लेकर सब कुछ पर और अनात्म है और जो पर एवं अनात्म है वह कभी स्व एवं आत्म नहीं हो सकता, चाहे कितना भी परिश्रम-प्रयास क्यों न कर लिया जाये। किसी शरीरधारी के सबसे निकट उसका अपना माना हुआ शरीर ही होता है और एक दिन वही साथ छोड़ देता है, सड़-गल कर मिट्टी में मिल जाता है। जब जन्म से मृत्युपर्यंत साथ रहने वाला शरीर ही साथ नहीं देता तब शरीर संबंधी अन्य प्राणी-पदार्थ साथ कैसे दे सकते हैं, तब उनका स्मरण-चिंतन करके आत्मविस्मरण क्यों किया जाये।

मनुष्य का मन बहुत संवेदनशील होने से वह बहुत शीघ्रता से सोचता है। और लगता है कि मन एक साथ अनेक विषयों का चिंतन कर रहा है, परन्तु ऐसा है नहीं। मन एक समय में एक ही बात सोचता है। जब मन पर एवं अनात्म वस्तुओं का स्मरण करता है तब स्व-आत्म का विस्मरण रहता है और जब मन स्व-आत्म का स्मरण करता है तब पर-अनात्म विस्मृत हो जाता है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

कबीर मन तो एक है, भावे तहां लगाव।
भावे गुरु की भक्ति करू, भावे विषय कमाव॥

अनात्म वस्तुओं के लोभ-मोह के संस्कार अनादि अभ्यस्त हैं, इसलिए मन बार-बार उधर ही फिसल जाता है और उनका ही चिंतन-स्मरण करता रहता है और उसी में रस लेता रहता है और जितना ही अनात्मचिंतन एवं इंद्रिय-भोगों में आनंद मानकर रस लेता है उतना ही शोक-मोह, दुख-चिंता से पीड़ित होता चला जाता है। यदि मनुष्य अनात्म-विनाशी वस्तुओं से विवेकपूर्वक शरीर-निर्वाह लेते हुए उनका चिंतन-स्मरण न कर मन को आत्मचिंतन में लगा कर रखेगा तो वह व्यवहार-परमार्थ दोनों क्षेत्र में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकेगा। इसीलिए कबीर साहेब कहते हैं—अब कहु राम नाम अविनाशी ।

आत्मचिंतन-स्वरूपविचार को छोड़कर मनुष्य जहां कहीं भी मन लगायेगा, आनंद मानेगा उसका उसी प्रकार पतन होगा जिस प्रकार पतिंगा दीप-ज्योति में झुलसकर अपना पतन कर लेता है। मूढ़ पतिंगा को दीप-ज्योति में मौत न दिखाई देकर परम आनंद दिखाई देता है उसी प्रकार मूढ़ मन को अनात्म-विकारी-विनाशी भोग-पदार्थों या भोग-विषयों में दुख-परवशता न दिखाई देकर सुख-स्ववशता-आनंद दिखाई पड़ता है। इसीलिए वह पतिंगा के समान भोग-विषयों में चिपककर अपना सर्वतोभांति पतन कर लेता है और जीवनपर्यंत सौ-सौ आंसू रोता रहता है।

अंत में पुनः एक बार यह बात दुहरा दी जाती है कि अनात्म पदार्थ मात्र जीवन निर्वाह एवं लोकसेवा के साधन हैं, इसलिए उनका उपार्जन, संग्रह एवं उपयोग-उपभोग करते हुए भी मन को उनमें आसक्त नहीं बनाना है और न दिन-रात उनका चिंतन-मनन करते रहना है। इसी प्रकार दुनिया के तथा जीवननिर्वाह के कर्म-व्यवहार करणीय हैं, चिंतनीय-मननीय नहीं। सब समय चिंतनीय-मननीय-स्मरणीय अपना आपा, स्वस्वरूप, आत्माराम ही है। सद्गुरु कबीर का यह कथन मार्गदर्शक का काम करता है—कर से काम, मन से राम। कहैं कबीर सरे, दोऊ काम॥

—धर्मेन्द्र दास

जब अपवित्र विचार घेरते हैं!

(काम, कारण और निवारण)

लेखक—श्रीकृष्णदत्त जी भट्ट

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

तुलसी बाबा के इस पद में जो अन्तर्वेदना छिपी है, उसका अनुभव किस साधक को नहीं होता?

हमें खट्टे, मीठे, चटपटे तरह-तरह के रसीले व्यंजन भाते हैं; शृंगार, हास्य, वीर, करुण आदि नव रसों में मजा आता है, जगत् के प्राणी-पदार्थ प्रिय लगते हैं। पर, राम अच्छे नहीं लगते ! भगवान् मीठे नहीं लगते!

प्रभु-चरणारविन्दों में हमारा प्रेम हो, ब्रह्म की ओर—सत्य की ओर हमारा झुकाव हो, तो फिर विषयों का प्रेम टिके ही कहां?

परंतु, कहां हो पाता है ऐसा?

× × ×

कोई उच्च आदर्श हो, कोई ऊंचा लक्ष्य हो, उसपर चलने के लिए हम कृतसंकल्प हों, तो गन्दे और अपवित्र विचारों की जड़ ही कट जाये।

विषयों में हमें तभीतक आनन्द आता है, भोगों में तभीतक मजा आता है, विषयवासना में तभीतक रस आता है, जबतक इससे ऊंचा रस हमने नहीं चखा। इससे ऊंचा कोई आदर्श हमारा आदर्श नहीं बना।

विनोबा ने ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा है—'ब्रह्म' अर्थात् कोई बृहत् कल्पना। यदि मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देह के सहारे संसार की सेवा करूं, इसी के लिए अपनी सारी शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है।

इन्द्रियों का निग्रह करना, यही एक विचार हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायेंगे कि इतने दिन हुए और अभीतक कुछ फल नहीं दिखायी देता। लेकिन, किसी बृहत् कल्पना के लिए हम इन्द्रियनिग्रह करते हैं तो 'यह हम करते हैं', ऐसा कर्तरि प्रयोग नहीं रहता; 'निग्रह किया जाता है' ऐसा कर्मणि प्रयोग हो जाता है। या यों कहिये कि निग्रह ही हमें करना है।

'भीष्मपितामह के मन में एक कल्पना आ गयी कि पिता के सन्तोष के लिए मुझे संयम करना है। बस, पिता का सन्तोष ही उनका 'ब्रह्म' हो गया और उससे वे आदर्श ब्रह्मचारी बन गये।'

'ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्य देशों में भी हुए हैं। एक वैज्ञानिक रात-दिन प्रयोग में मग्न रहता था। उसकी एक बहिन थी। भाई प्रयोग में लगा रहता है और उसकी सेवा करने के लिए कोई नहीं है—यह देखकर बहिन ब्रह्मचारिणी रहकर भाई के पास ही रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहिन के लिए 'बन्धुसेवा' ब्रह्म की सेवा हो गयी।'

'अध्ययन करने में यदि हम मग्न हो जायें तो इस दशा में विषयवासना कहां से रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थीं। भोजन में नमक कभी-कभी भूल से दुबारा पड़ जाता था, पर मन चिन्तन में इतना निमग्न रहता था कि मुझे इसका पता ही नहीं चलता था।'

'वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं। कोई लाश पड़ी है—ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसलिए ऋषियों ने कहा है—बचपन से वेदाध्ययन करो। मैंने अध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देश की सेवा करता रहा। यहां भी इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता थी, किंतु बचपन में इन्द्रियनिग्रह का अभ्यास हो गया था, इसलिए बाद में मुझे वह कठिन नहीं लगा।'

'मैं नहीं कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां, विशाल कल्पना मन में रखोगे, तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवन का आचरण, इसे ही मैं 'ब्रह्मचर्य' कहता हूं।'

× × ×

और विनोबा ने इस ब्रह्मचर्य के लिए अपने को किस तरह कसौटी पर कसा है, इसका अनुमान उस पत्र

से लग सकता है, जो उन्होंने 10/2/1918 ई. को बापू के नाम लिखा था।

विनोबा ने लिखा—'जब मैं दस वर्ष का था, तभी मैंने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए देशसेवा करने का व्रत लिया था। उपनिषदों का अध्ययन करने के लोभ से मैं इतने दिनों आश्रम से बाहर रहा। उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्य, मनुस्मृति, पातंजल योगदर्शन—इन ग्रंथों का मैंने अभ्यास किया। इनके अलावा न्यायसूत्र, वैशेषिक सूत्र, याज्ञवल्क्यस्मृति—इन ग्रन्थों को पढ़ गया। अब मुझको अधिक सीखने का मोह नहीं है।'

'दूसरा काम था स्वास्थ्यसुधार। उसके लिए पहले तो मैंने 10-12 मील घूमना शुरू किया। बाद में 6 से 8 सेर अनाज पीसना चालू किया। आज 300 सूर्य-नमस्कार और घूमना—यह मेरा व्यायाम है। इससे मेरा स्वास्थ्य ठीक हो गया।'

'आहार—पहले 6 महीने तक तो नमक खाया, बाद में उसे छोड़ दिया। मसाले वगैरा बिलकुल नहीं खाये और आजन्म नमक एवं मसाले न खाने व्रत लिया। दूध शुरू किया। उसे भी छोड़ा जा सकता हो तो छोड़ देने की मेरी इच्छा है। एक महीना केवल दूध और नीबू पर बिताया। इससे ताकत कम हुई। आज मेरी खुराक है—दूध डेढ़ सेर, भाखरी दो, केले 4-5, नीबू 1 (मिल जाये तो)। स्वाद के लिए अन्य कोई पदार्थ खाने की इच्छा ही नहीं होती। फिर भी मेरा यह आहार बहुत अमीरी है, ऐसा महसूस करता हूं।'

'अपरिग्रह—लकड़ी की थाली, कटोरी, आश्रम का एक लोटा, धोती, कम्बल और पुस्तकें—इतना ही परिग्रह रखा है। बंडी, कोट, टोपी वगैरह न पहनने का व्रत लिया है। इस कारण शरीर पर भी धोती ही ओढ़ लेता हूं। करघे पर बुना कपड़ा ही इस्तेमाल करता हूं।'

'स्वदेशी-परदेशी का सम्बन्ध मेरे पास है ही नहीं।'

'सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य—इन व्रतों का परिपालन अपनी जानकारी में मैंने ठीक-ठीक किया है, ऐसा मेरा विश्वास है।...

इस पत्र को पढ़कर बापू के मुंह से यकायक निकल पड़ा—'गोरख ने मछन्दर को हराया। भीम है भीम।'

कौन न गदगद हो उठेगा इस उज्ज्वल प्रसंग को पढ़कर?

स्पष्ट है कि हमारी कल्पना ऊंची हो, विशाल हो, ब्रह्म की खोज के लिए, अध्ययन के लिए, देश या समाज की सेवा के लिए अथवा ऐसे ही किसी उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिए हम अपने को उत्सर्ग कर दें, अपना जीवन दान कर दें, फिर तो स्वतः ब्रह्मचर्य का पालन हो जाता है। इन्द्रियां खुद ही संयम की पटरी पर दौड़ने लगती हैं।

बच्चे कबड्डी खेलते हैं, हाकी-फुटबाल खेलते हैं—खेलने के लिए, खेल का आनन्द लेने के लिए । स्वास्थ्य उन्हें मिल जाता है घलुए में। उसी तरह हमारा आदर्श ऊंचा हो, हमारा लक्ष्य ऊंचा हो, फिर तो इन्द्रिय संयम स्वतः हो जाता है।

× × ×

हर चीज के दो पहलू होते हैं। एक भावात्मक, दूसरा अभावात्मक। 'सत्य बोलो' भावात्मक रूप है। 'झूठ मत बोलो' अभावात्मक।

'सभी इन्द्रियों की शक्ति का उपयोग आत्मा के विकास के लिए करो'—यह हुआ ब्रह्मचर्य का भावात्मक रूप।

'विषयवासना मत रखो, इन्द्रियों को इधर-उधर मत भटकने दो'—यह हुआ ब्रह्मचर्य का अभावात्मक रूप।

आत्मानन्द, आत्मा का विकास, ब्रह्म में तल्लीनता, राम में रमना—ब्रह्मचर्य का एक रूप है।

इन्द्रियों का निग्रह, इन्द्रियों का संयम, विषय-वासना का निर्मूलन—उसका दूसरा रूप है।

एक ही सिक्के के दो बाजू, एक ही तराजू के दो पलड़े।

ब्रह्मचर्य के परिपालन के लिए हमें दोनों की साधना करनी पड़ेगी।

कारण, 'रस्ते जुदे-जुदे हैं, मकसूद एक है।'

× × ×

कुछ लोग कहते हैं कि 'काम' न हो तो सृष्टि का क्रम ही बन्द हो जाये।

ठीक है।

परंतु सृष्टि का क्रम बनाये रखने के लिए आप इतने चिन्तित क्यों हैं?

सृष्टि का नियन्ता करेगा न उसकी परवाह। उसने कहा ही है—

'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥'

× × ×

हमारे यहां धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—धर्म के चार स्तम्भ माने गये हैं। गृहस्थ आश्रम की रचना शनैः-शनैः इस काम को मर्यादित करने के लिए ही तो हुई है।

पति-पत्नी अपने अभावों की पूर्ति करते हुए जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हों, इसीलिए विवाह की पद्धति चलायी गयी है।

विवाह करने का अर्थ यह नहीं है कि हमें अमर्यादित कामोपभोग का 'लाइसेन्स' मिल गया।

× × ×

पति-पत्नी ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए भी सन्तानोत्पत्ति कर सकते हैं। शास्त्रों में ऐसी व्यवस्था है। गर्भाधान के लिए हमारे यहां अनेक विधि-निषेध हैं।

कहा गया है कि प्रतिपदा, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा, अमावस्या आदि तिथियों को छोड़कर; व्यतिपात, ग्रहण, रामनवमी, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, श्राद्ध-दिवस, संक्रान्ति और रविवार को छोड़कर, आश्लेषा, मघा, मूल, कृत्तिका, ज्येष्ठा, रेवती, उत्तराभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी और उत्तराषाढ़ा नक्षत्रों को छोड़कर और पत्नी के ऋतुमती होने की प्रथम चार रात्रियों को छोड़कर पांचवीं से सोलहवीं रात्रि तक गर्भाधान का उत्तम काल है।

इसके अलावा स्थान आदि के सम्बन्ध में भी कुछ विधि-निषेध हैं। जैसे रास्ते में, अन्य लोगों के सामने, औषधालय में, मन्दिर में, गुरुगृह में, मित्र के और गुरुजनों के बिछौने पर, श्मशान में, अपवित्र स्थान में, सबेरे या शाम, औषध-पान के उपरान्त, भूखे पेट अथवा भोजन के तुरन्त बाद, मल-मूत्र के आवेग के समय, व्यायाम अथवा मेहनत करने के बाद, उपवास के दिन, क्रोध के अथवा दुःख के आवेश में, किसी अन्य आवेग के समय सहवास वर्जित है।

गर्भाधान के उपरान्त सन्तान के जन्म तथा उसके बाद उस समयतक सहवास वर्जित है, जबतक शिशु माता का दुग्ध-पान बन्द न कर दे।

× × ×

आप कहेंगे कि जब सब निषेध-ही-निषेध है, तब गर्भाधान के लिए भी अवसर कहां रह जाता है?

जी नहीं। फिर भी महीने में एकाध रात्रि निकल ही आयेगी।

आपका प्रश्न हो सकता है कि इतने से यदि वासना की तुष्टि न हो तब तो सुकरात के कथनानुसार कफन मंगवाकर घर में रख लीजिये और चाहे जितनी बार वासना के हाथ का खिलौना बन जाइये।

× × ×

सुकरात से किसी ने पूछा—जीवन में कितनी बार स्त्री प्रसंग करना चाहिए?

'केवल एक बार।'

'एक बार से तृप्ति न हो तब।'

तब साल में एक बार।'

'फिर भी मन न माने तो?' 'महीने में एक बार।'

'फिर भी चित्त चंचल हो तो?'

'तो माह में दो बार। पर, ऐसा करने से मृत्यु शीघ्र आकर उठा ले जायेगी।'

'माह में दो बार से भी यदि तृप्ति न हो तो?' तब सुकरात ने झल्लाकर कहा—'तब कफन मंगवाकर घर में रख ले और चाहे जितनी बार वासनापूर्ति किया करे!'

ऐसा नहीं कि ये सब कोरे आदर्श की बातें हैं और व्यावहारिक जीवन में असम्भव हैं। जी नहीं। ऐसे पुरुष हुए हैं, आज भी हैं और आगे भी हो सकते हैं।

श्री श्रीरामकृष्णदेव परमहंस अपनी पत्नी शारदामणि के साथ एक शय्या पर सोते थे, पर विकारग्रस्त नहीं होते थे। महात्मा गांधी ने 40 वर्ष पत्नी के साथ रहते हुए ब्रह्मचर्य का पालन किया।

× × ×

स्पष्ट है कि गृहस्थ आश्रम में भी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सकता है, काम को पछाड़ा जा सकता है, उसपर बंदिश लगायी जा सकती है—बशर्ते कि कोई ऐसा चाहे।

हम पग-पग पर इसीलिए गिरते हैं कि हम सोच बैठते हैं कि काम पर विजय पाना असम्भव है। शैतान जैसे ही हमें फुसलाता है, हम बहक जाते हैं और अपवित्र विचारों की धारा में बह जाते हैं !

× × ×

बापू ने इसके लिए बड़ी ही हितकर सलाह दी है—'विवाहितों को एक-दूसरे के साथ एकान्त सेवन नहीं

करना चाहिए। एक कोठरी में एक चारपाई पर नहीं सोना चाहिए। यदि परस्पर देखने से विकार पैदा होता हो तो अलग-अलग रहना चाहिए। यदि साथ-साथ बातें करने से विकार पैदा हो जाता हो, तो बातें नहीं करनी चाहिए।'

'स्त्रीमात्र को देखकर जिसके मन में विकार आता हो, वह अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार करे। जो विवाहित न हो, उसे विवाह का विचार करना चाहिए। किसी को सामर्थ्य के बाहर जाने का आग्रह नहीं रखना चाहिए।'

और जब पत्नी के साथ इतने मर्यादित सम्भोग की बात है, फिर बाहर की तो कोई बात सोची ही कैसे जा सकती है? फिर अनैतिक, अवैध, अप्राकृतिक वासना तृप्ति की कल्पना भी कैसे की जा सकती है?

परंतु एकपत्नीव्रत का पालन भी दाल-भात का कौर तो नहीं है।

× × ×

पत्नी भी मानवी है। उसमें भी मानवीय दुर्बलताएं, कमियां और कमजोरियां रहती हैं। रुचिवैचित्र्य होता है। वह हमारी कल्पनाओं की साकार प्रतिमा नहीं बन पाती।

और तब हम घर के दायरे के बाहर सुख खोजने के चक्कर में पड़ जाते हैं।

आज का दूषित वातावरण, हमारा रहन-सहन, हमारी मित्रमण्डली, हमारे मनोविनोद के साधन—हमें पतन की ओर बुरी तरह खींचते हैं।

और हम सहज ही गिर जाते हैं। पाप के पथ पर सहज ही हमारे पैर फिसल जाते हैं।

× × ×

यह मार्ग भयंकर है। यह रास्ता खतरनाक है। हमें इस ओर जाने की कल्पना भी नहीं करनी चाहिए।

पर, जो चाहिए सो सब हो कहां पाता है?

सेठ जमनालाल बजाज ने एक बार मन की यह दुर्बलता बापू के चरणों में निवेदित की। उनका उत्तर हम सबके लिए उत्तम पथप्रदर्शक सिद्ध होगा। (उत्तर गुजराती में था, यह उसका भाषान्तर है—)

'अपवित्र विचारों से जो मुक्त हो जाये, उसे मोक्ष तो मिला ही समझना चाहिए।'

'अपवित्र विचारों का नाश कठोर तपश्चर्या से ही होता है। उसका एक ही उपाय है—

जब अपवित्र विचार आये, तभी उसके जोड़ में तुरन्त पवित्र विचार ला खड़ा करो।

प्रभुकृपा से ही ऐसा बनता है। और प्रभु की यह कृपा मिलती है—चौबीसों घण्टे ईश्वर नाम लेने से। और उन्हें अन्तर्यामी मान लेने से। रामनाम जीभ पर ही आता हो और मन में दूसरे विचार आते हों, तो रामनाम इतने प्रयत्नपूर्वक लिया जाये कि अन्त में, जो जीभपर है, वह हृदय में भी पहला स्थान ले ले।

इसके अलावा—मन चाहे जितना फड़फड़ाये, पर उसे एक भी इन्द्रिय सौंपना नहीं। मन जहां ले जाये वहां जाने से जो व्यक्ति जबरन भी इन्द्रियों को रोक रखता है, वह किसी दिन अपवित्र विचारों को वश में करने में समर्थ हो सकता है।

मैं तो जानता हूं कि आज भी यदि मैं इन्द्रियों को मन की मर्जी के अनुकूल चलने की छूट दे दूं, तो आज ही मेरा नाश हो जाये!

अपवित्र विचार आये तो उससे डरना नहीं, उससे पीछे नहीं हटना, हिम्मत नहीं हारना, बल्कि और दूने उत्साह से उसपर हमला करना चाहिए।

प्रयत्न का क्षेत्र सब का सब हमारे हाथ है, फल के क्षेत्र को ईश्वर ने अपने हाथ में रखा है। अतः उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

जैसे ही अपवित्र विचार आये, वैसे ही सोचो कि जानकीबाई (अपनी पत्नी) के प्रति बेवफा हो रहे हो, उसके प्रति विश्वासघात कर रहे हो। और कोई साधु पति अपनी पत्नी के प्रति बेवफा नहीं होता। तुम साधु हो।

अपवित्र विचारों को रोकने के प्रकृत उपाय तुम जानते ही हो।

अल्पाहार ही करो।

दृष्टि केवल सामने की जमीन पर रखकर चलो। आंख मलिन हो जाये, तो उसपर इतना क्रोध करो कि उसे फोड़कर ही रख दोगे।

निरन्तर पवित्र पुस्तकों का ही संग करो।'

प्रभु तुम्हारी रक्षा करें!

शुभेच्छु—
बापू के आशीर्वाद

(कल्याण, मई 2022 से साभार)

ध्यान : जीवन की पद्धति

लेखक—श्रद्धेय श्री महाप्रज्ञ जी महाराज

ध्यान एक अजूबा बना हुआ है। ध्यान करने वाले को विशेष माना जाता है। ऐसा लगता है कि ध्यान हमारे जीवन का अभिन्न अंग नहीं है, वह कोई विशेष साधना है। सचाई यह है कि यह जीवन का स्वाभाविक क्रम है। ध्यान कोई बाहर से आया हुआ तत्त्व नहीं है, यह जीवन की पूरी पद्धति है। ध्यान न करने वाले की जीवन-पद्धति में और ध्यान करने वाले की जीवन-पद्धति में अन्तर होगा। दोनों की जीवन-पद्धतियां समान नहीं हो सकतीं।

हम ध्यान को एक जीवन-पद्धति के रूप में स्वीकार करें। ध्यान से हमारे जीवन का समूचा क्रम बदल जाता है। यदि ध्यान करने से जीवन की चर्या न बदले, मान्यताएं और धारणाएं न बदलें, स्वभाव और आदतें न बदलें तो फिर ध्यान करने का विशेष अर्थ समझ में नहीं आता।

हर आदमी बदलता है। दुनिया में एक भी ऐसा आदमी नहीं जो न बदले। जो लोग बहुत रूढ़िवादी हैं, न बदलने की धारणा रखते हैं और यह घोषणा करते हैं कि सारी दुनिया बदल जाये, हम कभी नहीं बदलेंगे, वे भी बदलते हैं। उन्हें भी बदलना पड़ता है।

बदलना दो अवस्थाओं में होता है। एक है परिस्थिति से बदलना और दूसरा है विवेक से बदलना। परिस्थिति से बदलना बाध्यता से बदलना है। विवेक से बदलना सहज भाव से बदलना है। बदलना दोनों हैं, पर दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

एक नदी के किनारे आतिशबाजी का कार्यक्रम था। हजारों लोग एकत्रित हुए। भयंकर आतिशबाजी हुई। नदी की सारी मछलियां भयभीत हो गईं। उन्होंने सोचा—क्या प्रलय हो रहा है? यह विस्फोट कैसा? सब घबराई हुई मछलियां बड़ी मछली के पास गईं। उसने कहा—यह सब हमारे पापों का परिणाम है। जो प्रलय हो रहा है, आकाश और जमीन फट रही है, नदी में बाढ़ जैसी आ रही है, यह सब हमारे ही पापों का परिणाम है। हम भयंकर पाप करते हैं। बड़ी मछलियां छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उसी पाप का यह परिपाक है। आज से हम यह संकल्प करें—बड़ी मछली छोटी मछली को नहीं खाएगी। सब मछलियां आकुल-व्याकुल थीं, भयभीत थीं। सबने यह प्रस्ताव मान लिया।

दो घंटे तक आतिशबाजी का कार्यक्रम चला। भयंकर विस्फोट समाप्त हुआ। आकाश में उछलने वाली चिनगारियां बन्द हुईं। प्रलय का दृश्य समाप्त हो गया। सभी मछलियां भयमुक्त हो गईं।

जैसे ही भय मिटा, बड़ी मछलियां छोटी मछलियों पर झपटीं और उन्हें निगल गईं। जिस बड़ी मछली ने यह प्रस्ताव रखा था, उसी ने सबसे पहले छोटी मछलियों को खाना शुरू कर दिया।

यह परिस्थिति के आधार पर होने वाला बदलाव है। यह यथार्थ में बदलना नहीं है। क्या समाज में ऐसा नहीं हो रहा है। जब कोई कठिनाई या परिस्थिति सामने आती है, तब आदमी अपने आपको बदलता है। जैसे ही कठिनाई समाप्त हो जाती है, परिस्थिति बदलती है, तब आदमी मूलरूप में आ जाता है। सारा परिवर्तन समाप्त हो जाता है। जब व्यक्तियों की धर-पकड़ होती है, सरकार का रुख कड़ा होता है, तब आदमी भय से कुछ बदलता है। सारा समाज दूध धुला-सा हो जाता है। यह भय की परिस्थिति से होने वाला बदलाव है। कुछ वर्षों पूर्व जब 'अष्टग्रह' का आतंक छाया था, तब मृत्यु के भय से हजारों-हजारों व्यक्ति बदले थे। जीवन का सारा क्रम बदल गया था। अष्टग्रह का जब कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं हुआ, भय मिटा और आदमी मूल का बन गया। सारा परिवर्तन मिट गया। यह वास्तविक बदलना नहीं है, परिस्थिति के कारण बदलना है।

ध्यान की प्रक्रिया से जीवन बदलता है। यह परिस्थिति से होने वाला बदलाव नहीं है, विवेक से होने

वाला बदलाव है। यह यथार्थ का बदलना है। आदमी बदलता है। उसकी धारणाएं बदलती हैं, मान्यताएं बदल जाती हैं, जीवन की दृष्टि बदल जाती है। जब तक जीवन की दृष्टि नहीं बदलती, तब तक बाध्यता का बदलना होता है। जब जीवन-दृष्टि बदलती है, तब स्थायी बदलना होता है। उस बदलाव के बाद आदमी कभी बुरा आचरण नहीं कर सकता, दूसरों को नहीं सता सकता।

जिस दुनिया में हम जी रहे हैं, उसमें सब प्रकार के लोग हैं। अच्छे लोग भी हैं और बुरे लोग भी हैं। हिंसा में विश्वास करने वाले लोग भी हैं और अहिंसा में विश्वास करने वाले लोग भी हैं। संग्रह में विश्वास करने वाले भी हैं और असंग्रह में विश्वास करने वाले भी हैं। सभी प्रकार के लोग हैं। किसी भी प्रकार की यहां कमी नहीं है।

एक आदमी, हजारों से संपर्क। प्रत्येक संपर्क से मस्तिष्क प्रभावित होता है। हिंसा के पक्ष में तर्क सुनते ही आदमी का विचार हिंसा का समर्थन करने लग जाता है और अहिंसा के पक्ष में तर्क सुनकर आदमी अहिंसा का समर्थन करने लग जाता है। आदमी आस्तिकता के तर्क सुनकर आस्तिक तथा नास्तिकता के तर्क सुनकर नास्तिक बन जाता है। एक ही रुचि और एक ही आकर्षण नहीं है। नाना विचार, नाना आचार, रुचि और नाना आकर्षण है यहां। ऐसी दुनिया में एक आदमी का जीना और उन सब लोगों के बीच रहकर जीना कितना कठिन है वही जानता है जो उसे भोगता है। जो नहीं भोगता, वह क्या जाने? परन्तु यह तो प्रत्येक व्यक्ति भोगता है।

जब व्यक्ति ध्यान की स्थिति से गुजरता है तब उसमें शक्ति जागती है, प्राण शक्ति का विकास होता है और यह शक्ति उसे स्थिर बनाती है। हजारों प्रभाव आता है पर वह डोलता नहीं। बड़े-बड़े तूफान और बवंडरों से पर्वत नहीं डोलता, वृक्ष डोल जाते हैं, धराशायी हो जाते हैं। पर्वत में इतनी स्थिरता आ गई कि वह डोलता नहीं।

पानी की तीन अवस्थाएं होती हैं–तरल, बर्फ और भाप। तीनों एक ही हैं। इसमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जब पानी गाढ़ा होता है तब बर्फ बन जाता है और वही पानी जब एक बिन्दु पर पहुंचकर उबलता है, तब भाप बन जाता है। पानी तरल होता है, बर्फ गाढ़ा होता है और भाप उड़नशील होती है। वह आकाश में उड़ जाती है, पता ही नहीं चलता। पानी से बर्फ का मूल्य ज्यादा है।

एक अध्यापक ने विद्यार्थी से पूछा—पानी और बर्फ में क्या अन्तर है? विद्यार्थी ने उत्तर दिया—पानी बिना पैसे मिलता है और बर्फ के पैसे लगते हैं—यह अन्तर है। पानी से बर्फ का मूल्य ज्यादा है और बर्फ से भाप का मूल्य ज्यादा है।

चित्त की भी तीन अवस्थाएं हैं। एक है पानी की तरह तरल, दूसरी है बर्फ की तरह गाढ़ी और तीसरी है भाप की तरह उड़नशील। जब चित्त पानी की तरह तरल होता है, तब उसमें सब कुछ मिल सकता है, मिश्रण हो सकता है। पानी से हो भी आएगा, वह उसमें घुल-मिल जाएगा। यही बात तरल चित्त के विषय में होगी। जब चित्त तरल होता है, तब वह प्रत्येक प्रभाव से प्रभावित होता रहता है। जब पानी बर्फ बन जाता है, तब उसमें घुलनशीलता नहीं होती। जो भी डाला जाएगा, वह नीचे लुढ़क जाएगा। उसके साथ आत्मसात नहीं हो पाएगा। यही बात गाढ़ चित्त के विषय में है।

ध्यान एक प्रक्रिया है चित्त को गाढ़ बनाने की। ध्यान के द्वारा चित्त गाढ़ा बन जाता है, बर्फ जैसा बन जाता है। इस अवस्था में वह किसी भी प्रभाव से प्रभावित नहीं होता। प्रभाव आता है, टकराता है और नीचे लुढ़क जाता है। यह कभी संभव नहीं है कि प्रभाव न आए, पर यह संभव है कि चित्त उसे स्वीकार करे या न करे। जब तक चित्त को ध्यान के द्वारा गाढ़ा नहीं बना दिया जाता, तब तक आने वाले प्रभावों से हमारी मुक्ति नहीं हो सकती।

ध्यान चित्त को स्थिर बनाता है। जब चित्त स्थिर बनता है, तब आदमी प्रभावों से मुक्त हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति मुक्त होना चाहता है, मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। वह मानता है कि मरने के बाद मुक्ति मिलेगी। कहां है मोक्ष की प्राप्ति इस युग में? एक भाई ने पूछा—आज उत्तम संहनन नहीं है, वज्रऋषभनाराच संहनन नहीं है, फिर यदि मुक्ति की उत्कट अभिलाषा हो तो वह कैसे प्राप्त हो सकती है? मैंने कहा 'क्यों कामना करते हो मरने के बाद होने वाली मुक्ति की? वह तो होगी, तब होगी। तुम चाहो तो जीते-जी मुक्ति का अनुभव कर सकते हो और मुक्त हो सकते हो। चित्त को जमा कर गाढ़ा कर लो, अपने आप अनुभव होगा कि हर क्षण मुक्ति का बीत रहा है। जो लोग ध्यान का अभ्यास करते हैं, उन्हें अनुभव होता है कि हम मुक्ति का जीवन जी रहे हैं। हमारी चेतना जब राग-द्वेष से मुक्त होती है, तब मुक्ति का अनुभव होने लग जाता है। बंधन का अनुभव तब होता है, जब चेतना राग-द्वेष से बंधी हुई होती है।

ध्यान जीवन की एक पद्धति है? जीवन-पद्धति में अर्थ-व्यवस्था का बहुत बड़ा स्थान होता है। कोई भी जीवनक्रम अर्थ-व्यवस्था के बिना नहीं चलता। अर्थ-व्यवस्था के दो मुख्य तत्त्व हैं—आय और व्यय। आय और व्यय के आधार पर जीवन का ढांचा चलता है। प्रत्येक व्यक्ति आय भी करता है और व्यय भी करता है।

शक्ति की भी आय होती है और व्यय होता है। जो व्यक्ति ध्यान नहीं करता वह व्यक्ति आय कम करता है और व्यय अधिक करता है। जब मन चंचल होता है, तब शक्ति का व्यय अधिक होता है, आय होती ही नहीं। जिसने ध्यान नहीं सीखा, कायोत्सर्ग नहीं सीखा, वह शक्ति की आय कैसे कर पाएगा? जिसने मन को स्थिर करना नहीं सीखा, वह शक्ति की आय कम करता है, व्यय अधिक करता है। जिसने वचन को स्थिर करना नहीं सीखा। मौन नहीं सीखा, वह भी आय कम और व्यय अधिक करता है। जिसने शरीर की चंचलता को छोड़ना नहीं सीखा, कायोत्सर्ग नहीं सीखा, वह भी आय कम और व्यय अधिक करता है।

शरीर का क्रम बड़ा विचित्र है। आदमी बैठा है। सामने रेत है। उसकी अंगुली चलती है। वह रेत में अक्षर या चित्र उभारने लग जाता है। यह लिखना कोई सार्थक नहीं है, काम की बात नहीं है, प्रयोजन कुछ नहीं है। यह केवल चंचलता है। परन्तु क्या आप जानते हैं कि बिना प्रयोजन की इस प्रवृत्ति से शक्ति का कितना व्यय होता है? केवल एक अंगुली ही नहीं चल रही है, उसके साथ करोड़ों-करोड़ों सेल्स (कोशिकाएं), करोड़ों-करोड़ों न्यूरोन्स सक्रिय होते हैं, तब कहीं एक लकीर खींची जाती है। रूपक की भाषा में कहा जा सकता है कि हिन्दुस्तान के सारे कारखानों के सारे मजदूर जितने नहीं हैं, उनसे अधिक मजदूर लगते हैं, तब कहीं एक छोटी-सी लकीर खींची जाती है। शक्ति का कितना व्यय? यदि हम कायोत्सर्ग करना सीख जाएं, अनावश्यक प्रवृत्ति को छोड़ दें तो निरर्थक व्यय होने वाली शक्ति को बचा सकते हैं।

एक भाई ने पूछा—आप कहते हैं कि दीर्घ श्वास लेने से फेफड़ों को पूरी हवा मिल जाती है। हर व्यक्ति को छह पौंड हवा चाहिए। वह दीर्घ श्वास से पूरी हो जाती है। यदि श्वास दीर्घ नहीं होता है तो फेफड़ों को कम हवा मिलती है। यह ठीक है परन्तु जब हम कायोत्सर्ग करते हैं, तब श्वास दीर्घ नहीं रहता, छोटा हो जाता है, मंद पड़ जाता है, उससे हवा पूरी नहीं मिलती तो क्या कायोत्सर्ग इस दृष्टि से अप्रयोजनीय नहीं है?

यह प्रश्न स्वाभाविक है, किन्तु हमें यह जान लेना चाहिए कि हवा की, ऑक्सीजन की जरूरत तब अधिक होती है, जब हम प्रवृत्ति अधिक करते हैं। जो व्यक्ति कायोत्सर्ग में स्थिर हो जाता है, उसकी मानसिक, वाचिक या कायिक प्रवृत्तियां स्वतः कम हो जाती हैं और इसलिए ऑक्सीजन की खपत भी कम हो जाती है। जितना गहरा कायोत्सर्ग, उतनी ही प्राणवायु की खपत कम, उसकी अधिक जरूरत ही नहीं होती। ऐसी स्थिति में प्राणवायु भले ही कम जाये फेफड़ों में, कोई चिन्ता नहीं है। चिन्ता तब होती है, जब व्यक्ति कार्य में अधिक प्रवृत्त होता है और श्वास मंद लेता है। इससे असंतुलन पैदा होता है, अनेक गड़बड़ियां पैदा होती हैं। असंतुलन मिटाने का उपाय है जितना काम करें, प्राणवायु भी उतनी ही मात्रा में खींचें, जिससे कि फेफड़ों को शक्ति मिले, रक्त की पूरी सफाई हो और कार्बन पूरा निकल जाये।

आज का युग मानसिक विकृतियों का युग है। विकृतियां क्यों पैदा होती हैं? आज का आदमी प्रवृत्ति-

बहुल हो गया है। वह इतना व्यस्त रहने लगा है कि एक क्षण की भी उसे फुर्सत नहीं है। इस व्यस्तता ने मानसिक उद्वेगों को प्रोत्साहन दिया है, मानसिक बीमारियों को जन्म दिया है। ये बीमारियां बढ़ती चली जा रही हैं। मानसिक बीमारी मस्तिष्क से ही जन्म नहीं लेती, वह फेफड़ों से शुरू होती है। जिस व्यक्ति के फुप्फुस में कार्बन अधिक संचित होता है, उसके बेचैनी प्रारम्भ हो जाती है, शरीर टूटने लग जाता है, भार का अनुभव होने लगता है। यह कैसे नहीं होगा? इनका मूल है—दूषित गैस का संचय, कार्बन का संचय। बोल-चाल की भाषा में कहते हैं—घुटनों में दर्द है, कमर और कंधे में दर्द है। दर्द कहां पैदा नहीं होता? जिसे हमने पाल रखा है, वह समय-समय पर प्रकट होता है। यह प्रकट इसलिए होता है कि व्यक्तियों का अपानवायु दूषित है। जिसका अपानवायु दूषित है, उसके अनेक दर्द पलेंगे। यह दूषित वायु दर्द पैदा करता है, अवरोध उत्पन्न करता है। इस अपान की अशुद्धि के कारण ही नयी-नयी बीमारियां पैदा होती हैं। एक है प्राणवायु और एक है अपानवायु। नाक के द्वारा जो वायु भीतर जाता है, वह है प्राणवायु और नाभि के नीचे जो वायु है, वह है अपानवायु। अपानवायु के दूषित होने का एक बड़ा कारण है भोजन। आदमी चाहता है-खूब खाया जाये, गरिष्ठ पदार्थ खाये जायें। वे पचें या नहीं, उसकी उसे चिन्ता नहीं। वह अपनी जीभ को संतुष्ट करना चाहता है। वह यह चाहता है कि उसे प्रत्येक भोजन में स्वाद की अनुभूति हो। भोजन की इस गलत धारणा के कारण अपानवायु दूषित होता है और वह अनेक बीमारियों को जन्म देता है।

शक्ति की सुरक्षा का एकमात्र उपाय है—प्राण की शुद्धि और अपान की शुद्धि। ध्यान करने वाला व्यक्ति बदलता है। उसमें केवल यही बदलाव नहीं आता कि वह पचास मिनट या साठ मिनट तक ध्यान करता है। उसकी सारी जीवन-चर्या बदल जाती है। खान-पान बदल जाता है। रहन-सहन बदल जाता है। व्यवहार और आचरण बदल जाता है। वह फिर हर प्रवृत्ति को आय और व्यय की कसौटी पर कसता है। आज हिंसा की समस्या बहुत उग्ररूप धारण कर रही है। युद्ध छिड़ते रहते हैं, लड़ाइयां भड़कती रहती हैं। एक ही मानव-समाज में जीने वाले लोग परस्पर एक-दूसरे को मारने लग जाते हैं। एक आदमी किसी दूसरे की हत्या करता है और अपराध प्रमाणित होने पर उसे न्यायालय से आजीवन कारावास या फांसी का दण्ड मिलता है। एक आदमी को मारने पर यह सजा और उधर युद्ध के मैदान में एक सैनिक यदि अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतार देता है तो उसे 'महावीर चक्र' जैसे पुरस्कार मिलते हैं और वह सम्मानित किया जाता है। खुले में मारने वाला अपराधी नहीं माना जाता और छिपे-छिपे मारने वाला अपराधी माना जाता है।

जीवन की यह पद्धति इसलिए विकसित हुई कि आदमी ध्यान करना नहीं जानता। जब तक आदमी ध्यान करना नहीं जानता, तब तक वह समता को नहीं जानता। समता को जाने बिना इस जीवन-पद्धति से छुटकारा नहीं हो सकता। इससे छुटकारा तब मिल सकता है जब आदमी ध्यान करना सीखे। ध्यान के द्वारा जीवन में समता का विकास होगा, समता से राग-द्वेष-मुक्त चेतना जागेगी।

ध्यान का मूल अर्थ है—राग-द्वेष-मुक्त चेतना का अनुभव। जब तक राग-द्वेष-मुक्त चेतना का अनुभव नहीं होता, तब तक समता का अवतरण नहीं होता और जब तक समता का अवतरण नहीं होता तब तक सामायिक नहीं होती। जब तक सामायिक नहीं होती, तब तक जीवन की पद्धति नहीं बदल सकती।

गुलाब का पौधा कुछ समाधान चाहता था। उसे एक राजनीतिज्ञ मिला। उससे परामर्श किया। गुलाब ने पूछा—मुझे अपनी सुरक्षा के लिए क्या करना चाहिए? राजनीतिज्ञ बोला—जैसे के साथ तैसा व्यवहार करना चाहिए। हमारी दुनिया बड़ी भयंकर है। यदि तुम अपनी सुरक्षा चाहते हो तो शस्त्रों का निर्माण करो। राजनीतिज्ञ और क्या सलाह दे सकता था? गुलाब ने सोचा—परामर्श बहुत अच्छा है। वह प्रभाव में आ गया। उसने अपने चारों ओर कांटों का जाल बिछा लिया। शस्त्र खड़े कर दिये। वे कांटे उसे दुःख देने लगे, कष्ट देने लगे।

वह गुलाब का पौधा फिर एक साधक के पास गया और बोला—मैंने अपनी सुरक्षा के लिए कांटे ही कांटे खड़े कर दिये। उनकी चुभन मेरे कलेवर को बींध न डाले, इसलिए मैं क्या करूं? मुझे कोई उपाय बताओ? साधक बोला—'तुमने कांटों का जाल बिछाकर उचित काम नहीं किया। जीवन की यह पद्धति खतरनाक होती है। कांटों से न तुम्हारा भला है और न तुम्हारे पास आने वाले का भला है। तुम्हें जीवन-पद्धति को बदलना होगा। तुम अब सुगंध बिखेरो। गुलाब को यह बात पसन्द आ गई। उसने फूल उगाये। फूल उगे, बड़े ही सुन्दर और आकर्षक। चारों ओर सुरभि बिखरने लगी। लोग आने लगे। भीनी-भीनी और मधुर सुगंध में खो गये। गुलाब ने देखा। जीवन के दोनों कोण उसके सामने थे। वह दोनों को भोग चुका था। जीवन-पद्धति भी दो प्रकार की होती है। एक जीवन-पद्धति है कांटों वाली और दूसरी जीवन-पद्धति है फूलों वाली। जो लोग राग-द्वेष-मुक्त चेतना को नहीं जगाते, समता का अभ्यास नहीं करते, सामायिक की उपासना नहीं करते, वे अपनी सुरक्षा के लिए कांटे लगाते हैं। वे चारों ओर शस्त्रों का अंबार लगाते हैं और उन्हें सुरक्षा का साधन और भय-मुक्ति का कारण मानते हैं।

शस्त्रों से सुरक्षा होती नहीं। एक के पास कांटा है तो दूसरे के पास उस कांटे को तोड़ने वाला दूसरा बड़ा कांटा है। इस कांटों की दुनिया में कोई कांटा सबसे बड़ा नहीं है। हर कांटा छोटा होता है, जब उसके सामने बड़ा कांटा आकर खड़ा हो जाता है। इन कांटों को समाप्त किया जा सकता है, फूलों के विस्तार के द्वारा। हमारी जीवन-पद्धति फूलों की पद्धति बने। वह ध्यान, समता और राग-द्वेष-मुक्त चेतना के द्वारा ही संभव हो सकती है।

ध्यान का अभ्यास करने वाले यह कभी न मानें कि ध्यान का मार्ग कठिनाई से मुक्त है। बड़ी कठिन है ध्यान की साधना। किन्तु यह जीवन की पद्धति को बदलने का उपक्रम है। जीवन की पद्धति को बदलना, विकास करना खतरे से खाली नहीं होता। कठिनाइयां आती हैं। जोखिम लेनी पड़ती है। इस दुनिया में ऐसा कभी नहीं हुआ कि किसी आदमी ने विकास किया हो और खतरा मोल न लिया हो। ऐसा कभी होता नहीं।

हम जानते हैं कि प्रत्येक विकास के उपक्रम के साथ खतरे की संभावना बनी रहती थी, जोखिम उठानी पड़ती थी। जो खतरे और जोखिम से डरता है, वह फकीर का फकीर रह सकता है, जहां बैठा है, वहीं बैठा रह सकता है, पर विकास नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में साहस होता है, धैर्य होता है, कठिनाइयों को झेलने की क्षमता होती है, वह खतरों को मोल लेता है और आगे से आगे बढ़ता जाता है। वैसे व्यक्तियों का उपादान पाकर ही ऐसी सृष्टि का निर्माण होता है, जहां कांटे नीचे रह जाते हैं और फूलों की सुरभि से सारा वायुमण्डल सुरभित हो जाता है।

('एकला चलो रे' से साभार)

✡ **खाना जो हम खाते हैं, एकाध दिन के अन्दर शरीर से बाहर निकल जाना चाहिए, वरना हम बीमार हो जायेंगे। पानी जो हम पीते हैं, दो-चार घंटे के अंदर शरीर से बाहर निकल जाना चाहिए, वरना हम बीमार हो जायेंगे। हवा जो हम सांस लेते हैं कुछ सेकण्ड में ही वापस निकल जाना चाहिए, वरना हम मर जायेंगे।**

✡ **कुछ नकारात्मक बातें, जैसे कि घृणा, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि, इनको हम अपने अंदर दिन, महीने और सालों तक मन में बनाये रखते हैं। यदि इन नकारात्मक विचारों को समय-समय पर अपने अन्दर से नहीं निकालेंगे तो एक दिन निश्चित ही मानसिक रोगी बन जायेंगे। जीवन का सारा सुख छीन जायेगा। अब निर्णय आपका है।**

—इंटरनेट से

अच्छा सोचें : सुख से जियें

लेखक—विवेकदास

प्रकृति द्वारा जो सोचने की शक्ति प्राप्त है यह सचमुच में एक वरदान है। इसी के तहत मनुष्य जीवन की जटिलताओं से अपने आपको ऊपर उठा सका है। यदि मनुष्य के पास सोचने की शक्ति न होती तो मनुष्य आज भी पशुवत जीवन जीता रहता। आज मनुष्य ने जो कुछ भी आध्यात्मिक, सामाजिक, भौतिक और नैतिक विकास किया है, वह सोच की वजह से ही संभव हुआ है। परन्तु यह कहना भी अनुचित न होगा कि मनुष्य गलत, नकारात्मक और अनावश्यक सोच की वजह से दुखी, भयभीत, अशांत और असंतुष्ट भी बना हुआ है।

यद्यपि सोचने की शक्ति प्रकृति द्वारा प्राप्त है, परन्तु किस दिशा में सोचना है, कैसे सोचना है, यह हम पर निर्भर है। हम कभी-कभी गलत और नकारात्मक चिंतन वाले व्यक्तियों का संग-साथ करके कब गलत और नकारात्मक हो जाते हैं, पता ही नहीं चलता है। और एक बार जब सोच की दिशा गलत हो जाती है तो फिर हमारा व्यक्तित्व ही गलत होने लगता है। हमारा जीवन दुख, अवसाद और नकारात्मक विचारों से घिर जाता है फिर हम चाह कर भी उससे उबर नहीं पाते हैं, फिर नियति, भाग्य या ईश्वर को दोष देते हैं।

आपने प्रायः अच्छे खासे बुद्धिजीवियों को भी यह कहते सुना होगा कि अरे भाई! पहले का जमाना अच्छा था। लोग अच्छे होते थे। नैतिक और सदाचारी होते थे। आजकल तो लोग बहुत खराब हैं। जहां देखो वहां अनैतिकता, भ्रष्टाचार, दुराचार, पापाचार। आज तो झूठ का ही जमाना है, सत्य बोलकर तो जिया ही नहीं जा सकता।

यह बात सुनकर आपको भी लगता होगा, सचमुच ऐसा ही है। परन्तु सच यह है कि सब समय सब प्रकार के लोग होते रहे हैं और उनमें भी सज्जन और अच्छे लोगों की संख्या हमेशा अधिक रही है। खराब और बुरे लोग तो कुछ ही होते हैं। हिंसा, हत्या, लूट, बलात्कार, जबरर्दस्ती क्या पहले नहीं होते थे? पुराना जो प्राप्त इतिहास है चाहे वे महाकाव्य के रूप में हों, चाहे कोरे इतिहास के रूप में हों प्रायः उनमें इसी प्रकार की बातें भरी हैं। इसलिए यह कहना कि पहले सब अच्छा था और आज खराब है, उचित नहीं है। यह सोच कि पहले के लोग अच्छे थे और आज खराब हैं नकारात्मक सोच है।

हमें वर्तमान में जीना है, आज जीना है और आज के प्रति हमारा नजरिया अच्छा नहीं है तो फिर हम सुखी कैसे होंगे।

कुछ लोगों को अपने घर के लोगों में अच्छाई नहीं दिखाई देती। जैसे पत्नी में, पति में, सास में, बहू में, बच्चों में। दूसरों के घर के लोगों में अच्छाई दिखाई देती है। लोगों को आपने जरूर कहते सुना होगा इसकी पत्नी बहुत अच्छी है, पति अच्छा है, सासु अच्छी है, बच्चे अच्छे हैं। अब यह भी हो सकता है कि कोई एकदम उजड्ड स्वभाव का हो, पर सब ऐसे नहीं हो सकते। परन्तु लोग अपनी नकारात्मक भावनाओं की वजह से उन्हें गलत और बेकार समझने लगते हैं और जब किसी के प्रति हमारी मनःस्थिति नकारात्मक हो जाती है तो फिर वह कितना भी अच्छा क्यों न हो हम उसे अच्छे नजरिये से देख ही नहीं पाते। अब जिन लोगों के संग-साथ हमें रहना है यदि उनके प्रति अच्छा भाव नहीं है, अच्छा नजरिया नहीं है, तो फिर हम सुखी कैसे हो सकेंगे। कुछ लोगों का अपने सेहत-स्वास्थ्य को लेकर नकारात्मक भाव होता है—"अरे, मेरा तो बचपन से ही स्वास्थ्य खराब रहता है अब क्या सही होगा। हमारे तो बाप-दादों को भी सुगर रहता था मुझे भी होना ही है।" एक सज्जन से मुलाकात हुई तो वे कह रहे थे—साहेब! हम लोग पांच भाई हैं। और हमारे सभी भाइयों को सुगर था। चार भाई तो सुगर की वजह से मर ही गये। मुझे भी सुगर हो गया है, यह ठीक होगा ही नहीं। अब इस प्रकार की नकारात्मकता रखकर आदमी स्वस्थ और सुखी कैसे हो सकता है।

कहा जाता है कि आप जैसा सोचते हो, वैसा हो जाते हो। यदि आप स्वास्थ्य, सेहत, प्रेम, सद्भाव आदि के बारे में सोचेंगे तो यही आपको हासिल होगा। यदि आपको अच्छा स्वास्थ्य चाहिए तो इसके बारे में ही सोचिए। आप बीमारी एवं घृणा आदि के बारे में क्यों सोचते हैं। प्रेम के बारे में ही सोचिए। कैसे प्रेम बढ़े और कैसे प्रेमपूर्ण जीवन हो, इसके बारे में सोचिए।

कुछ युवक-युवती जो वैवाहिक बंधन में बंधना चाहते हैं, वैवाहिक जीवन जीना चाहते हैं वे दूसरों के वैवाहिक जीवन की कटुता, संबंध-विच्छेद आदि के बारे में सोचते हैं कि हमारे साथ भी तो ऐसा नहीं हो जायेगा। पर आप इसके बारे में सोचते क्यों हैं। बल्कि यह क्यों नहीं सोचते कि वैवाहिक जीवन में कैसे एक दूसरे के साथ प्रेमपूर्ण और समरस जीवन जीना चाहिए। यदि ऐसा सोचने लगेंगे तो जीवन में दिशा मिलने लगेगी और ऐसे लोगों का साहचर्य भी प्राप्त होने लगेगा।

कहा जाता है ईश्वर या ब्रह्म ने पहले विचार किया कि मैं जगत का निर्माण करूं और उसने किया। मतलब जगत का निर्माण पहले मन से हुआ। इसीलिए कितने विचारक जगत को मन की ही रचना मानते हैं। यह तो दार्शनिक विचार है। इसके खींचतान में हमें नहीं पड़ना है कि क्या सही है और क्या गलत है। परन्तु यह परम सत्य है कि हम अपना जगत अपनी सोच से बनाते हैं। जैसी हमारी सोच होती है वैसे ही हम जगत का निर्माण करते हैं। यदि सोच अच्छी और सकारात्मक है तो जगत अच्छा होगा और यदि गलत और नकारात्मक है तो फिर गलत जगत होगा। मतलब कि हमारा सेहत, हमारा मन, हमारी सभा-सोसायटी हमारी सोच के आधार पर ही बनने वाली है।

इतनी बात तो तय है कि आप और हम रोग, व्याधि, दुख और अवसाद के बारे में सोचकर निरोग, सुखी और प्रसन्न कभी नहीं हो सकते। बल्कि इसके विपरीत विचार निरोगता, स्वास्थ्य, सुख और प्रसन्नता के बारे में सोचकर सुखी और प्रसन्न हो सकते हैं।

कहा जाता है कि अमेरिका में एक व्यक्ति को उसके डॉ. ने बताया कि तुम्हें ऐसी बीमारी है कि तुम ज्यादा से ज्यादा एक वर्ष तक ही जी सकते हो। पहले तो वह व्यक्ति सुनकर घबरा गया, फिर सोचा जब एक वर्ष का ही जीवन है तो चलो और भी देशों का भ्रमण करते हैं और जीवन को खुशनुमा बनाते हैं। वह अनेक देशों में घुमा। जब वह वहां की गरीबी और लोगों की दयनीय स्थिति देखा; तो उसे लगा कि इससे अच्छा तो मर जाना ही बेहतर है। लोगों के पास कितनी तकलीफ है। लोग कितना कष्ट सह रहे हैं। वह व्यक्ति यथासंभव लोगों की मदद करता, सेवा करता। उसका भाव परिवर्तित होता है। उसको लगता है कि मुझे मानवता की सेवा करके कुछ सार्थक करना है। वह प्रसन्न मन से लोगों की सेवा करता। एक वर्ष के बाद जब वह पुनः अमेरिका जाकर चेक कराता है तो डॉ. को बड़ा आश्चर्य हो जाता है कि तुम्हारा रोग तो एकदम गायब हो गया है और तुम एकदम स्वस्थ हो। यह चमत्कार हुआ कैसे?

बस हृदय परिवर्तन-भाव परिवर्तन और मन परिवर्तन से। प्रसिद्ध लेखिका और मोटीवेशनल स्पीकर लुईस.एल.हे. ने लिखा है कि वह एक भयंकर बीमारी से ग्रसित हो गयी थी। डा. ने उन्हें ऑपरेशन की सलाह दी पर उनके पास ऑपरेशन कराने लायक पैसा नहीं था। उसने ऑपरेशन नहीं कराया बल्कि मन के अन्दर के समस्त नकारात्मक विचारों को दूर करने के लिए क्षमा, करुणा, प्रेम आदि सद्गुणों का सहारा लिया और कुछ ही दिनों में अपने आपको पूर्ण स्वस्थ कर लिया। वह आज अस्सी वर्ष से ऊपर की हैं और स्वस्थ और सुखमय जीवन जी रही हैं। और समाज के सभी वर्ग के लोगों को मोटीवेट कर रही हैं।

वास्तव में हम जितना ही अपने स्वास्थ्य और सम्बन्धों के बारे में सकारात्मक रहेंगे उतना ही अच्छा रहेगा और हम सुखी और प्रसन्न रह सकेंगे।

कहा है "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो।" मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष, सुख और दुख का कारण है। मन की सोच सकारात्मक, अच्छी और निर्भ्रान्त है तो सुख, प्रसन्नता और मोक्ष है। और विपरीत है तो बंधन, दुख और अशांति है। इसलिए हमें मन की सोच को सकारात्मक और अच्छी बनाना है। ❑

व्यवहार वीथी

जो कुछ करों सो पूजा

कुछ दिनों पूर्व एक दंपती मिलने आये। दोनों एक साथ एक प्रतिष्ठित बैंक में काम करते थे। बातचीत के दौरान दोनों ने कहा—महाराज! काम का दबाव इतना अधिक रहता है कि हमेशा मन में तनाव बना रहता है, जिससे चिड़चिड़ापन बढ़ता जा रहा है और इसका असर हमारे पारिवारिक जीवन पर भी पड़ता जा रहा है। जिसके कारण न घर में शांति रहती है और न बाहर। उनसे कहा गया—यदि काम का इतना दबाव है तो नौकरी छोड़ दो, जिससे कम से कम मन शांत रहे और पारिवारिक जीवन सुखद बना रहे। उन्होंने कहा—महाराज! यदि नौकरी छोड़ दें तो खायेंगे क्या और अपना तथा परिवार का भरण-पोषण एवं जीवन निर्वाह कैसे होगा ?

उनसे कहा गया—नौकरी छोड़ नहीं सकते और नौकरी में काम का दबाव एवं अधिकता होने से मन हमेशा तनावग्रस्त एवं अशांत बना रहता है तो फिर सुख से जीने का रास्ता क्या है? उन्होंने कहा—समझ में नहीं आता। मैंने कहा—एक उपाय है यदि उसका प्रयोग कर सको तो काम कभी दबाव एवं तनाव का कारण नहीं बनेगा और मन हमेशा प्रसन्न रहेगा। उपाय यह है कि जब भी बैंक जाने के लिए घर से निकलो तब कभी यह मत सोचो कि हम नौकरी करने बैंक जा रहे हैं, किन्तु यह सोचो और भावना करो कि हम पूजा करने मंदिर जा रहे हैं। वहां अपना पैसा जमा करवाने या जमा पैसा निकालने जो लोग आते हैं वे हमारे देवी-देवता, भगवान-भगवती हैं। उनसे आदर एवं प्रेम पूर्वक बात-व्यवहार करो तथा उनका पैसा जमा करने एवं निकालने को पूजा समझो तो मन कभी तनावग्रस्त एवं अशांत नहीं रहेगा, बल्कि प्रसन्न एवं शांत रहेगा, क्योंकि पूजा का फल है मन की प्रसन्नता एवं शांति। यदि पूजा करने के बाद भी मन प्रसन्न एवं शांत नहीं रहता, किन्तु अशांत एवं तनावग्रस्त रहता है तो वह पूजा पूजा नहीं; एक ढोंग, दिखावा एवं पाखण्ड है।

बड़े-बड़े पूजारी, भक्त, धार्मिक, साधु-संन्यासी, संत-महंत भी क्यों उलझे-उलझे एवं अशांत रहते हैं, क्यों वे कलह का वातावरण तैयार करते रहते हैं, क्योंकि उन्होंने पूजा-पाठ को सिर्फ औपचारिक कर्मकांड मान रखा है। जीवन परिवर्तन का साधन नहीं, आचरण नहीं। वे पूजा-पाठ धार्मिक दिखने के लिए करते हैं, धार्मिक होने और धर्म को जीने के लिए नहीं करते। चाहे कोई गृहस्थ हो या विरक्त अंततः दोनों मनुष्य हैं और दोनों के मन की उलझन, अशांति, पीड़ा आदि तभी दूर होंगे जब वे पूजा-पाठ को औपचारिक कर्मकांड न मानकर एवं पूजागृह-धार्मिक स्थल तक सीमित न रखकर जीवन व्यवहार-आचरण में उतारेंगे।

खास बात यह है कि कोई कहीं भी जीवन-निर्वाहिक-लोकमंगल का कोई भी काम करता हो जब तक उस काम के प्रति प्रेम-समर्पण नहीं होगा तब तक उसका मन तनावग्रस्त-अशांत एवं बोझिल ही बना रहेगा। अधिकतम यही देखा जाता है कि लोग किसी भी काम-धंधा को मात्र धनार्जन का साधन मानकर करते हैं और उसमें भी थोड़ी मेहनत से ज्यादा लाभ पाना चाहते हैं, इसीलिए वे तन-मन दोनों से जल्दी थक जाते हैं। यदि लोग जिस प्रकार पूजाघर में समर्पित होकर श्रद्धा-भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं उसी प्रकार समर्पित होकर श्रद्धा-भक्ति पूर्वक अपने काम को करने लग जायें तो उनका काम सुंदर ढंग से पूरा होगा और उसका परिणाम भी बहुत सुंदर होगा और उससे मन तनावग्रस्त न होकर प्रसन्न बना रहेगा।

किसी भी पूजागृह-उपासनास्थल में जाकर पूजा-प्रार्थना कर लेना सरल है कठिन तो है अपने कार्यस्थल को पूजागृह समझना। आज चारों तरफ रोज कोई न कोई पूजागृह-उपासना स्थल का निर्माण हो रहा है और सभी पूजागृह-उपासना स्थलों में पूजा-प्रार्थना-इबादत करने वालों की भीड़ लगी है, परन्तु उनके जीवन आचरण, कर्म-व्यवहार एवं मानसिक स्थिति को देखकर नहीं लगता कि पूजा-प्रार्थना-इबादत उनके जीवन में उतर रहे

हैं। लोगों के जीवन आचरण, कर्म-व्यवहार को देखकर यही लगता है कि वे ईश्वर-खुदा-गॉड के भक्त कम हैं ज्यादा तो अपने भोग-स्वार्थ, अहंकार-कामना एवं लोभ-लालच के भक्त हैं और जो भोग-स्वार्थ, अहंकार-कामना एवं लोभ-लालच का भक्त होगा उसका मन तनावग्रस्त एवं अशांत ही रहेगा। वह पारमार्थिक उन्नति तो कर ही नहीं सकता, उसका व्यावहारिक जीवन भी उलझनपूर्ण बना रहेगा।

घर-बाहर, खेत-खलिहान, दुकान-दफ्तर, कारखाना आदि कोई कहीं भी काम करता हो यदि अपने कार्यस्थल को पूजागृह, अपने काम को पूजा एवं घर के सदस्यों तथा दुकान-दफ्तर-कारखाना में आने वाले ग्राहकों, काम करने लोगों को भगवान-भगवती, देवी-देवता समझ कर उनसे सुंदर बात-व्यवहार करें, प्रेमपूर्वक उनका काम करें तो किसी के मन में न कोई तनाव रहेगा न शिकायत, बल्कि सबका मन प्रसन्न बना रहेगा। यदि किसी भी काम को सेवा-पूजा समझकर किया जाये तो काम बोझ नहीं बनेगा, और न दबाव एवं तनाव का कारण बनेगा?

गीता में तथा अन्य धर्मग्रंथों में जो कहा गया है कि कर्म करने पर तुम्हारा अधिकार है फल पर नहीं या फल की इच्छा छोड़कर कर्म करो, इसका अर्थ क्या है? कोई भी निरुद्देश्य कुछ नहीं करता। वह कोई न कोई उद्देश्य रखकर और कुछ पाने की इच्छा रखकर ही कोई काम करता है और हर छोटे-बड़े काम का परिणाम-फल भी आता है। फिर यह क्यों कहा गया कि कर्म करने पर ही तुम्हारा अधिकार है फल पर नहीं ?

वस्तुतः लोग आधे-अधूरे मन से थोड़ी-मेहनत करके या बिना मेहनत किये पूजा-पाठ करके ज्यादा से ज्यादा मनोनुकूल फल प्राप्त करना चाहते हैं और जब उन्हें मनोनकूल फल प्राप्त नहीं होता तब वे हताश-निराश हो जाते हैं और उनका मन तनावग्रस्त हो जाता है। यदि लोग फल की चिंता न कर पूर्ण मनोयोग से समर्पित होकर सावधानीपूर्वक काम करें, अपना पूरा ध्यान काम में लगाकर काम करें तो काम बहुत अच्छे ढंग से संपादित होगा और उसका परिणाम-फल भी बहुत अच्छा आयेगा। पूर्ण मनोयोग से समर्पित होकर काम करने से कठिन से कठिन काम भी सरल लगने लगता है और आधे-अधूरे मन से काम करने पर सरल काम भी कठिन, भारी और बोझ बन जाता है।

कौन आदमी कितनी देर तक काम करता है यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना यह महत्त्वपूर्ण है कि वह कितने प्रेम से और किस भावना से काम करता है। एक बहुप्रचलित उदाहरण से इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता है—

एक जगह एक मंदिर-निर्माण के लिए कुछ मजदूर गिट्टी तोड़ रहे थे। वहां से गुजरने वाले एक राहगीर ने एक मजदूर से पूछा—भाई! क्या काम कर रहे हो? उस मजदूर ने झुंझलाकर कहा—देख नहीं रहे हो कि गिट्टी तोड़ रहा हूं और गिट्टी क्या तोड़ रहा हूं अपने भाग्य को तोड़ रहा हूं। राहगीर ने वहीं पास में गिट्टी तोड़ रहे एक दूसरे मजदूर से पूछा—भैया! तुम क्या रहे हो? उस मजदूर ने कहा—बाबू जी ! अपना तथा अपने बाल-बच्चों के पेट भरने के लिए यहां गिट्टी तोड़ने का काम कर रहा हूं। कोई और काम नहीं मिला तो यहां गिट्टी तोड़ने आ गया, क्योंकि पेट भरने के लिए कुछ न कुछ तो करना पड़ेगा। राहगीर ने थोड़ी दूर पर गिट्टी तोड़ रहे एक तीसरे मजदूर से वही प्रश्न किया। वह गिट्टी तोड़ने में इतना तल्लीन था कि वह राहगीर का प्रश्न सुना ही नहीं। जब राहगीर ने जोर से आवाज देकर उससे पूछा कि तुम यहां क्या कर रहे हो तब उस मजदूर ने सिर उठाकर प्रसन्न मुद्रा में कहा कि यहां भगवान का मंदिर बन रहा है तो मैं उस मंदिर निर्माण में सहयोग कर रहा हूं। महत्त्व यह नहीं है कि इस काम में मुझे क्या मजदूरी मिलेगी, किन्तु महत्त्व यह है कि मुझे इस पुनीत कार्य में सहयोग करने का अवसर दिया गया।

इस उदाहरण में हम देख सकते हैं कि तीनों मजदूर काम तो एक समान गिट्टी तोड़ने का ही कर रहे थे किन्तु तीनों की भावनाओं में जमीन-आसमान का अंतर है। कोई काम छोटा-बड़ा नहीं होता। हमारी भावनाएं, हमारी मानसिक स्थिति एवं सोच काम को छोटा-बड़ा बनाती हैं। हर मनुष्य को यह समझना होगा कि जीवन-निर्वाह

एवं लोकसेवा के छोटे-बड़े कहे जाने वाले जितने भी काम हैं सारे काम पुनीत-पवित्र हैं। आवश्यकता है तो बस उसे पूजा समझकर करने की। किसी भी काम को पूजा समझकर करने पर वह कभी बोझ, दबाव तथा मानसिक तनाव का कारण नहीं बनेगा। इसके विपरीत पूजागृह-धार्मिक स्थलों में की जाने वाली पूजा भी यदि बेमन और किसी दबाव में करने पर वह भी बोझ एवं तनाव का कारण बन जायेगी।

महत्त्वपूर्ण यह नहीं है कि किस काम के फल में क्या-कितना भौतिक लाभ होता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि उस काम को करते समय और करने के बाद मन कितना प्रसन्न और आह्लादित रहता है। किसी भी काम को पूजा समझकर करने पर मन सदैव प्रसन्न ही बना रहेगा। पूजागृह में की जाने वाली पूजा के पीछे कोई भौतिक लाभ की कामना है, कोई पूजा कोई भौतिक लाभ पाने के लिए की जाती है तो वह पूजा मन की प्रसन्नता का कारण न बनकर मानसिक तनाव एवं बोझ का कारण ही बनेगी। क्योंकि भौतिक लाभ चाहे जितना भी हो जाये उससे मन कभी संतुष्ट नहीं होता, सदैव कमी का ही अनुभव होता है और जहां मन में संतोष ही नहीं है वहां मन प्रसन्न कैसे रह सकता है। वह सदैव तनावग्रस्त ही रहेगा।

निष्काम भाव से पूजा-सेवा समझकर काम करने पर जो भी फल-परिणाम आयेगा मन उसमें सदैव संतुष्ट और प्रसन्न रहेगा। इसीलिए कहा जाता है कि फल की चिंता छोड़कर व्यक्ति को निष्काम भाव से काम करना चाहिए। कोई भी व्यक्ति कर्म किये बिना रह नहीं सकता। जीवन ही कर्ममय है। कर्म करने से भौतिक उपार्जन तो होता ही है, शरीर भी स्वस्थ रहता है, परन्तु किसी भी कर्म-काम को जब प्रसन्न मन से निष्काम भाव से किया जाता है तब वह कर्म-काम पूजा बन जाता है। अतः जो भी कर्म-काम करें प्रसन्न मन से पूजा समझकर समर्पित होकर निष्काम भाव से करें फिर उसका परिणाम स्व-पर के लिए हितकर, मंगलमय एवं सत्यं, शिवं एवं सुंदरम् ही होगा। इसी के लिए तो सद्गुरु कबीर ने कहा है—

जहाँ जहाँ डोलूं सो परिकरमा, जो कुछ करों सो पूजा।
जब सोवों तब करों दण्डवत, भाव मिटावों दूजा॥

—धर्मेन्द्र दास

दुर्लभ ही होते हैं दुर्लभ गुणों से युक्त व्यक्ति अथवा वास्तविक साधु

लेखक—श्री सीताराम गुप्ता

संत कबीर कहते हैं :

सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहीं पाँत।
लालों की नहीं बोरियाँ, साधु न चलैं जमात॥

अर्थात सिंह तो गाय-भैंसों की तरह लेहंड़े या विशाल झुंडों में नहीं चरते, हंस भी दुर्लभ होते हैं अतः उड़ते हुए उनकी लंबी-लंबी कतारें दृष्टिगोचर नहीं होतीं, लाल या रूबी जो कि एक कीमती पत्थर है उसकी भी बोरियां देखने में नहीं आतीं, उसी प्रकार से साधु भी बिरले होते हैं, वे जमात या समूह में विचरण करते नहीं देखे जाते। जमात या समूह में रहने वाले सभी साधु नहीं होते। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्तम वस्तुएं हों, उत्तम स्थितियां हों, उत्तम जीव-जंतु हों या फिर उत्तम पुरुष, सभी दुर्लभ होते हैं। कई बार मन में प्रश्न उठता है कि कीमती अथवा महत्त्वपूर्ण होने के कारण वस्तुएं

अथवा संबंध दुर्लभ हो जाते हैं या मात्र दुर्लभता के कारण वस्तुएं अथवा संबंध कीमती अथवा महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं?

सोना बहुत कीमती धातु है। सोचता हूं कि कहीं दुर्लभ होने के कारण ही तो सोना इतना कीमती नहीं है? आज विश्व में जितना लोहा अथवा लोहे के भंडार उपलब्ध हैं यदि उतना ही सोना या सोने के भंडार उपलब्ध होते और सोने की जगह लोहे के तो क्या फिर भी सोना इतना ही कीमती और महत्त्वपूर्ण होता? यह ठीक है कि किसी भी वस्तु की प्रचुरता के कारण वह सरलता से उपलब्ध हो जाती है और अपेक्षाकृत कम कीमत में भी उपलब्ध हो जाती है लेकिन किसी भी वस्तु, स्थिति अथवा संबंध का महत्त्व तो उसके गुणों अथवा गरिमा के कारण ही होता है। स्वर्ण भी बहुमूल्य है तो उसके गुणों और उपयोगिता के कारण ही बहुमूल्य है। सोने को नोबल मेटल कहा गया है क्योंकि इसमें दुर्लभ गुण हैं। सोने के जितने पतले तार या शीटें अथवा परतें बनाई जा सकती हैं अन्य किसी धातु की नहीं बनाई जा सकतीं। दूसरी धातुओं पर भी इसकी अत्यंत सूक्ष्म परत चढ़ाई जा सकती है। न तो इस पर जंग ही लगता है और न अन्य धातुओं की तरह इसका क्षरण ही होता है।

आज देश में ही नहीं पूरे विश्व में सिंहों की आबादी कम होती जा रही है। इसकी कई प्रजातियां लुप्त होने के कगार पर खड़ी हैं। हंस भी कम मिलते हैं। सिंह अथवा हंस का महत्त्व उनकी दुर्लभता अथवा जैव विविधता में उनके महत्त्व के कारण ही नहीं अपितु सिंह की बहादुरी व हंस की नीर-क्षीर-विवेक की क्षमता अथवा योग्यता के कारण ही अधिक है। हीरा हो या लाल हो उनका महत्त्व भी उनके रंग-रूप व रासायनिक संरचना के गुणों के कारण ही है जिससे उनका आभूषणों में प्रचुर मात्रा में इस्तेमाल किया जा सकता है। इन सब की तरह ही साधु भी दुर्लभ होते हैं।

आज तो साधु नामक जीवों ने बड़े-बड़े संगठन और महासंगठन बना लिये हैं। साधु जमात नहीं खड़ी करता। उसे संगठन की आवश्यकता नहीं। संगठन तो व्यावसायिक हितों के पोषण के लिए खड़े किये जाते हैं। साधु को व्यक्तिगत हित-अहित की परवाह नहीं होती। वह बहादुर सिंह की तरह अकेला चलता है। वह किसी विचारधारा के प्रति पूर्वाग्रह नहीं रखता। दुराग्रही नहीं होता। किसी संप्रदाय की विचार की चादर को नहीं लपेटता। वह हंस की भांति नीर-क्षीर-विवेकी होता है। आज के साधु तो प्रायः गुटबाज़ हैं, धर्म के वास्तविक स्वरूप को विकृत अथवा खंडित कर उन्होंने न जाने कितने संप्रदाय व उपसंप्रदाय बना डाले हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण होती है किसी भी धातु अथवा पदार्थ की तरह ही एक साधु की मानसिक संरचना भी। कबीर कहते हैं :

साधु ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय॥

एक साधु में केवल सार तत्त्व को ग्रहण करने की क्षमता होनी चाहिए। वह धर्म के मूल तत्त्व को समझे, न कि कर्मकाण्ड और आडंबर को जीवन में स्थान दे। किसी भी व्यक्ति में जब उपरोक्त गुणों का विकास प्रारंभ हो जाता है तो वह साधु बनने की प्रक्रिया में आ जाता है। उसके लिए रंग विशेष के परिधान अथवा मठ की कोई आवश्यकता नहीं। उपरोक्त गुणों से युक्त अपने दैनिक कार्यों में संलग्न प्रत्येक व्यक्ति वास्तव में साधु ही है। अपनी आध्यात्मिक यात्रा में उपरोक्त गुणों को धारण करके कर्मशील रहने के कारण ही कबीर संत शिरोमणि के उच्च स्थान पर आसीन हुए इसमें संदेह नहीं। वास्तविक साधु तत्त्व या संन्यास क्या है? गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं :

जड़ चेतन गुन दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

करतार अर्थात विधाता ने इस जड़-चेतन विश्व को गुण एवं दोष दोनों से युक्त किया है अथवा रचा है लेकिन संत रूपी हंस दोष रूप में उपलब्ध जल को छोड़कर गुण रूपी दूध को ही ग्रहण करते हैं। जब किसी में नीर-क्षीर विवेक या सार तत्त्व को ग्रहण करने की

क्षमता का विकास होता है तभी उसमें साधु तत्त्व या संन्यास का उद्भव होता है।

दो संन्यासी एक पहाड़ी पर स्थित अपने मठ की ओर जा रहे थे। रास्ते में एक नाला पड़ता था। वहां नाला के किनारे एक युवती बैठी थी जिसे नाला पार करके मठ के दूसरी ओर स्थित अपने गांव पहुंचना था लेकिन बरसात के कारण नाला में पानी अधिक होने से युवती नाले को पार करने का साहस नहीं कर पा रही थी। संन्यासियों में से एक संन्यासी ने, जो अपेक्षाकृत युवा भी था, युवती को अपने कंधे पर बिठाया और नाले के पार ले जाकर छोड़ दिया। युवती अपने गांव की ओर जाने वाले रास्ते पर बढ़ चली और संन्यासी अपने मठ की ओर जाने वाले रास्ते पर।

दूसरे संन्यासी ने युवती को अपने कंधे पर बिठा कर नाला पार कराने वाले संन्यासी से उस समय कुछ कहा तो नहीं, पर मुंह फुलाए हुए उसके साथ-साथ पहाड़ी चढ़ता रहा। मठ आ गया तो इस संन्यासी से और नहीं रहा गया उसने अपने साथी संन्यासी से कहा—"हमारे मत में स्त्री को छूने की ही नहीं देखने की भी मनाही है लेकिन तुमने तो एक युवा स्त्री को अपने हाथों से उठाकर कंधे पर बिठाया और नाला पार करवाया। हमारे मत के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है।" "ओह तो यह बात है" पहले संन्यासी ने कहा, "पर मैं तो उस युवती को नाला पार कराने के बाद वहीं छोड़ आया था लेकिन लगता है कि तुम उसे अब तक ढो रहे हो।"

संन्यास का अर्थ किसी की सेवा या सहायता करने से विरत होना नहीं अपितु मन से वासना और विकारों का त्याग करना ही सही अर्थों में संन्यास है। इस दृष्टि से युवती को कंधे पर बिठाकर नाला पार कराने वाला संन्यासी सही अर्थों में संन्यासी है। यदि हम इस तथ्य को भली प्रकार समझ लें और अपने मन में समाये घातक विकारों और वासना पर नियंत्रण कर लें तो गृहस्थ होते हुए भी संन्यासी समान ही हैं। इस संसार में रहते हुए यदि मनुष्य ठान ले कि मुझे अध्यात्म-पथ पर अग्रसर होना ही है तो उसे सफलता अवश्य मिलेगी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण तो मन की निर्मलता और निष्कपटता है।

धर्म अथवा आध्यात्मिकता के विकास में बाधक घर-संसार नहीं अपितु बाधक हैं मन में व्याप्त घातक नकारात्मक वृत्तियां। राग-द्वेष, घृणा आदि नकारात्मक भाव घर को भी घर नहीं रहने देते और फिर यदि इन भावों के साथ संसार का त्याग भी कर दिया तो किस काम का। हमारे अनेक महान साधु-संत, कवि, विचारक, चिंतक जो सही अर्थों में आध्यात्मिक व्यक्ति भी हुए हैं सद्गृहस्थ ही थे। संत कवि तिरुवल्लुवर और कबीर जुलाहे थे, रविदास चमड़े से जूते बनाते थे, नामदेव दर्जी का काम करते थे। निसर्गदत्त महाराज परचून की दुकान चलाते थे।

सांसारिक मुश्किलों से घबराकर पलायन करने वाला व्यक्ति ऊपरी तौर पर चाहे कितना ही परिवर्तन कर ले, भगवा वस्त्र धारण कर ले अथवा मठ में रहने लग जाए, सहजता-सरलता तथा मन की निर्मलता व निष्कपटता के अभाव में अध्यात्म-पथ का यात्री नहीं हो सकता। कर्म भी एक साधना है और कर्मयोग का साधक निष्काम कर्म द्वारा अध्यात्म-मार्ग का अनुसरण ही करता है। व्यवसाय में ईमानदारी, सेवा में कर्तव्यनिष्ठा भी आध्यात्मिकता ही तो है। राग-द्वेष, लाभ-हानि, सुख-दुख आदि परस्पर विरोधी भावों से ऊपर उठ जाना ही सच्ची आध्यात्मिकता है।

किसी भी प्रकार का वैचारिक बंधन आध्यात्मिकता की अनुभूति में बाधक ही होता है। कोई व्यक्ति किसी पंथ विशेष में दीक्षा लिए बिना भी मुक्त हो सकता है। मनुष्य को बांधने वाले होते हैं उसके मनोभाव। घर-बार और संसार कहां बांधते हैं। घर छोड़ने पर भी रहना तो संसार में ही पड़ेगा। संसार में रहते हुए संसार को नहीं दुर्भावनाओं को त्यागा जा सकता है और जिसने दुर्भावनाओं को त्याग दिया वही सच्चे अर्थों में संन्यस्थ हो गया। संसार से नहीं घोर सांसारिकता अथवा भौतिकता से मुक्त होना ही सच्ची आध्यात्मिकता है। ❑

परमार्थ पथ

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले

"मरते मरते जग मुवा, मुये न जाना कोय। ऐसा होय के ना मुवा, बहुरि न मरना होय।" इसका तात्पर्य है, इस अनात्म शरीर को जो सब समय मन से त्यागकर स्वरूपभाव में स्थित रहता है उसे मरना नहीं पड़ता। उसने तो पहले ही मन से शरीर का त्याग कर दिया है, तो मरना कहां रहा? जो निरंतर स्वरूप में स्थित है, वह अपने अमरधाम में विराजमान है। देह रहे तक भी अमरधाम में है और देह छूट जाने पर भी अमरधाम में है। उपाधि का पूर्ण अभाव कर देने पर निरुपाधि शुद्ध चेतन की स्थिति ही सब समय विद्यमान है। यही शाश्वत निर्भय पद है। इस झूठे देह-गेह का भ्रमजनित मोह त्यागकर स्वस्वरूप में ही विराजना चाहिए। यही सर्वोच्च पद है।

* * *

मुझ असंग, केवल चेतन के साथ जो कुछ जुड़ता है वह देह और मन के संबंध से; और देह तथा मन भी अनात्म ही है। सारा अनात्म झूठ सिद्ध होता है। जब प्रखर विवेक की स्थिति दृढ़ हो जाती है तब सारा संबंध झूठ लगता है। जब निरंतर सब कुछ झूठ लगता है तब इस अनुभविता को जो मैं के रूप में परम सत है, परम शांति मिलती है। मन की अंतहीन आशाएं और जाल अविद्या से ही विद्यमान हैं। देह के छूट जाने पर इस संसार में अपना क्या रह जाता है? सच्ची साधना यही है कि सारे अनात्म को निरंतर अनात्म ही समझता रहे। जब द्रष्टा अपने को कहीं दृश्य में नहीं जोड़ता, तब वह कृतार्थ हो जाता है। सब कुछ की आशा-वासना करना छोड़ देना ही मोक्ष है।

* * *

कहीं कुछ मेरा नहीं लगता है। लगता है कि एक बड़ा सपना चल रहा है। जिस दिन देह बिखर जायेगी उसी समय यह सपना सदा के लिए शून्य हो जायेगा। जग जाने पर सपने के हानि और लाभ प्रभावित नहीं करते। इसी प्रकार जो व्यक्ति मोह-नींद से जग जाता है, वह जीवन-सपने के हानि-लाभ के द्वन्द्व से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। क्या रखा है इस संसार में अपने लिए। सबसे सब समय अनासक्त रहना ही परम आनंद है। त्याग, त्याग, त्याग। किसका त्याग? लगाव का त्याग। 'साहेब मेट लगारी।' सद्गुरु ने लगारी मिटाने की आज्ञा दी है। सबसे सब समय अनासक्त रहना जीवन्मुक्ति है।

* * *

यह संसार है। यहां जितना धन है सब माटी-गोबर है और वह निरंतर परिवर्तनशील है। यहां किसी का कुछ नहीं है। मनुष्य इस झूठे संसार में अपने को जोड़-जोड़ कर उसकी अहंता-ममता में दुखी है। सारी अहंता-ममता तोड़कर ही जीव सुखी हो सकता है। यह शरीर कल्याण-साधन है। साधना कर लो, अंततः यह बिखर जायेगा।

* * *

झूठे संसार में मन को कहीं मत उलझाओ। संसार अनादि-अनंत प्रवहमान है। तुम्हारा और इसका संबंध क्षणिक है, सदा के लिए छूट जाना है। इसलिए झूठा है। तुम्हारा अपना आपा-चेतन-अस्तित्व सदैव तुम्हारे साथ है। उसी में मन टिकाओ। जो कभी न छूटे, उसी में मन लगाना ठीक है और जो मिलकर छूट जाये, उसमें मन लगाना दुख पैदा करना है। तुम्हारे चारों तरफ सब डगमग है, सब क्षणिक है; अतएव जड़ दृश्य में कहीं मन रखना भयंकर भूल होगी। जीव अनादिकाल से इस झूठे जगत में अपने को उलझाकर दुख भोगते आया है। अब गुरु ज्ञान मिल गया है। अब असावधानी नहीं करना चाहिए। इस धोखे की दुनिया से अपने को ऊपर कर लेना चाहिए।

* * *

जीव वासना-वश रहे, तो भी शरीर छूट जाने पर आज का सब कुछ सदा के लिए भूल जायेगा। यदि जीव वासना त्याग कर विदेहमुक्त हो जाये, तो उसे सारा जड़ दृश्य-संसार सदा के लिए भूल जायेगा। संसार का

स्मरण ही तो दुख देता है। अतएव आज से ही संसार को भूलने की आदत बनाओ। निर्विकल्प समाधि ही मोक्ष देगी। साधक को चाहिए कि इस सदा के लिए छूट जाने वाले संसार को भूलने का अभ्यास करे। जो सदा के लिए भूल ही जाना है, उसे देह रहते-रहते भूलो, तभी मोक्ष संभव है। अन्यथा इस संसार का भ्रमजनित मोह रूपी चुंबक तुम्हें पुनः संसार में खींच लायेगा। सब कुछ भूल कर ही स्वयं में अचल विश्राम मिलता है।

* * *

जीवन में सुख से रहना चाहो तो पानी से पकाया हुआ सात्त्विक, सुपाच्य और संतुलित भोजन करो कड़ी भूख लगने पर। शरीर से परिश्रम करो। शारीरिक परिश्रम करने का अवसर न हो तो सुबह-शाम खुली हवा में भ्रमण करो, व्यायाम और आसन करो। इस छूटने वाले, क्षणिक एवं झूठे संसार की हानि और लाभ का प्रभाव मन पर न आने दो। संसार में न तुम्हारी कुछ हानि है और न लाभ है। वस्तुतः हानि है मन का दुखी रहना और लाभ है मन का प्रसन्न रहना। दुनिया की माया और प्रभुता से प्रसन्नता नहीं मिलती है, अपितु दुनिया से निर्चाह रहने से स्थिर प्रसन्नता मिलती है। इस कूड़ेदान संसार से क्या चाहना। जो हर क्षण छूट रहा है और अंततः सदा के लिए छूट जाना है उसको क्या चाहना।

* * *

यह धर्मयात्रा चल रही है, चलती आयी है और चलती रहेगी। चलाने वालों का प्रवाह है। उनमें कोई स्थिर होकर रहने वाला नहीं है। वैदिक ऋषि, औपनिषदिक ऋषि, शास्त्रीय ऋषि, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, जरथुस्त्र, सुकरात, शंकर, कबीर, नानक, तुलसी नाम कितने लिये जायें, यह प्रवाह चलता रहता है। अपना काम पूरा कर लेना चाहिए, वह है इस असार संसार से पूर्ण निष्काम होकर सदैव आत्मतृप्त रहना। इसी दशा में रहते-रहते जीवन का अंत करना।

* * *

जहां न शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न रस है और न गंध है तथा न कुछ संकल्प-विकल्प है, वह मेरा अपना चेतन-अस्तित्व है। इस स्थिति के अभ्यास के लिए कान, चाम, आंख, जीभ, नाक और मन को निष्क्रिय कर पूर्ण शांत हो जाना चाहिए। इस दशा में द्वैत से कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। इसी को ठीक से देर-देर तक साधना चाहिए; और इसकी ऐसी दृढ़ धारणा बनाना चाहिए कि इस दशा का बोध चलते-फिरते उठते-बैठते सब समय बना रहे। एक दिन समय एवं काल चक्र देह से विछोह करा देगा, तब अद्वैत दशा ही रह जायेगी। देह रहते-रहते इसको साध लेने पर अमृत स्थिति प्राप्त होती है जो शाश्वत होती है, क्योंकि यही मेरा अस्तित्व है।

* * *

मन शीतल रहना बड़ी बात है। मन के बड़े-बड़े प्रपंच हैं। झूठी बातों को मन सत्य सिद्ध करने में लगा रहता है। यहां तक कि जिन लोगों के मरे दसकों हो गये हैं उनकी उपस्थिति कर मन उन्हें सत्यवत सिद्ध करने में प्रवीण है। न हुए को हुआ बनाना मन का जाल है। प्रतिक्रिया का नरक बनाना मन जानता है। जिनके बीते बहुत दिन हो गये, उन घटनाओं को वर्तमान में कल्पनाओं में उपस्थित कर उद्वेग उत्पन्न करना मन का प्रपंच है। परंतु याद रखो, यह सब वैराग्य की दुर्बलता का फल है। प्रबल वैराग्य में मन भस्म हो जाता है। वह केवल उचित काम करता है और दग्धबीज रहता है। जीवन्मुक्ति इसी में फलती है।

* * *

कोई भी सांसारिक कामना रखने से दुख उत्पन्न होता है, तब उसे किस लाभ के लिए रखी जाये? जब पूर्ण निष्काम रहने से परम शांति रहती है, तब पूर्ण निष्काम क्यों न रहा जाये? संसार की कामना रखकर संसार की कौन-सी वस्तु अपने पास स्थायी रूप से रखी गयी या रखी जा सकती है? जब शरीर ही क्षण-क्षण गल और छूट रहा है और एक दिन पूरा सदा के लिए छूट जायेगा, तब किस वस्तु की कामना रखने योग्य है? जिससे जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त होता है—अखंड शांति, वह सब तरफ से निष्काम रहने पर ही संभव है। अतएव मन की पुरानी गंदी गलियों में चलना छोड़कर नये प्रशस्त-पथ निष्काम रहने में जीवन व्यतीत करो, इसी में जीवन की सफलता है। ❑

खुदाराम

लेखक—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

(1)

हमारे कस्बे के इनायत अली कल तक नौमुसलिम थे। उनका परिवार केवल सात वर्षों से खुदा के आगे घुटने टेक रहा था। इसके पहले उनके सिर पर चोटी थी, माथे पर तिलक था और घर में ठाकुरजी थे। हमारे समाज ने उनके निरपराध परिवार को जबर्दस्ती मन्दिर से ढकेलकर मसजिद में भेज दिया था।

बात यों थी : इनायत अली के बाप उल्फत अली जब हिन्दू थे, देवनन्दन प्रसाद थे, तब उनसे अन्जाने में एक अपराध बन पड़ा था। एक दिन एक दुखिया गरीब युवती ने उनके घर आश्रय मांगा। पता-ठिकाना पूछने पर उसने एक गांव का नाम लिया। कहा—

'मैं बिल्कुल अनाथ हूं। मेरे मालिक को गुजरे छः महीने से ऊपर हो गये। जब तक वह थे मुझे कोई फिक्र न थी। जमींदार की नौकरी से चार पैसे करके वही हमारी दुनिया चलाते थे। उनके वक्त गरीब होने पर भी मैं किसी की चाकरी नहीं करती थी। अब उनके बाद, उसी गांव में पेट के लिए परदा छोड़ते मुझे शर्म मालूम होने लगी। इसलिए उस गांव को छोड़, इस शहर में नौकरी तलाश रही हूं। मुझे और कुछ नहीं, चार रोटियां और चार गज कपड़े की जरूरत है। आपको भगवान ने चार पैसे दिये हैं। मेरी हालत पर रहम कीजिए। मुझे अपने घर के एक कोने में रहने और बाकी जिन्दगी ईश्वर का नाम लेने में बिताने दीजिए। आपका भला होगा।'

जात पूछने पर उसने अपने को अहीरन बताया। देवनन्दन प्रसाद जी सरल हृदय थे। स्त्री की हालत पर दया आ गई। उनकी स्त्री ने अहीरन की मदद की।

कहा—'रख लो न, चौका-बर्तन किया करेगी, पानी भरेगी, दो रोटी खायेगी और पड़ी रहेगी।'

अहीरन रख ली गई। दो महीने तक वह घर का कामकाज संभालती रही।

इसके बाद एक दिन एकाएक वज्रपात हुआ। न जाने कहां से ढूंढते-ढूंढते एक आदमी, देवनन्दन जी के यहां आया। पूछने लगा—

'बाबूजी, आपने कोई नई मजदूरिन रखी है?'

'क्यों भाई? तुम्हारे इस सवाल का क्या मतलब है?'

'बाबूजी, दो महीनों से मेरी औरत लापता है। मैं उसी की तलाश में चारों ओर की खाक छान रहा हूं। जरा सी बात पर लड़कर भाग खड़ी हुई।'

इसी समय हाथ में घड़ा और रस्सी लिये वह अहीरन घर से बाहर निकली। उसे देखते ही पुरुष झपटकर उसके पास पहुंचा।

'अरे, फिरोजी! यह क्या? किसके लिए पानी भरने जा रही है?'

'इधर आओ जी।' जरा कड़े होकर देवनन्दन जी ने कहा—

'यह कैसा पागलपन है? तुम किसे फिरोजी कह रहे हो? वह हमारी मजदूरिन है। हमारे लिए पानी लेने जा रही है। उसका नाम फिरोजी नहीं रुकमिनियां है। किसी गैर औरत का इस तरह अपमान करते तुम्हें शर्म नहीं आती?'

जोश में देवनन्दन जी इतना कह तो गये, मगर रुकमिनियां के चेहरे पर नजर पड़ते ही उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं। उस पुरुष को देखते ही अहीरिन रुकमिनियां का मुंह काला पड़ गया। वह काठमारी-सी जहां की तहां खड़ी रह गई।

रुकमिनियां को फिरोजी कहने वाले ने देवनन्दन की ओर देखकर कहा—'बाबूजी, आपने धोखा खाया। यह हिन्दू नहीं मुसलमान है। रुकमिनियां नहीं, मेरी भागी हुई बीबी फिरोजी है।'

देवनन्दन के काटो तो खून नहीं।

(2)

शाम को, घर के सरदारों के घूमने-फिरने, मिलने-जुलने के लिए निकल जाने के बाद मुहल्ले की बूढ़ी औरतें और जवान लड़कियां अपने-अपने दरवाजों पर

बैठकर जोर-जोर से देवनन्दन और फिरोजी की चर्चा करने लगी।

'बाबा रे बाबा!' एक बूढ़ी ने राग अलापा—औरत का ऐसा दीदा! मर्द को छोड़कर दूसरे देश और दूसरे के घर चली आयी!'

'मुंहझौंसी थी तो तुर्किन, बन गयी अहीरिन! मुसलमान औरतों में लाज नहीं होती, मां! वह तो इस तरह अपने मालिक को छोड़कर दूसरों के यहां चली आयी, मुझे तो घर के बाहर भी जाने में डर मालूम होता है। निगोड़ी औरत क्या थी, पतुरिया थी।' एक विवाहिता लड़की ने कहा।

सामने के दरवाजे पर से दूसरी अधेड़ औरत ने कहा—

'अब देखो रघुनन्दन के बाप का क्या होता है। दो महीनों तक तुर्किन के हाथ का पानी पीकर और उससे चौका-बर्तन कराकर उन्होंने अपना धरम खो दिया है। हमारे...तो कह रहे थे कि अब उनके घर से कोई नाता न रखा जायेगा।'

'नाता कैसे रखा जा सकता है!' पहली बूढ़ी ने कहा, 'धरम तो कच्चा सूत होता है। जरा-सा इधर-उधर होते ही टूट जाता है। फिर हमारा हिन्दू का धरम! राम-राम! जिसको छूना मना है, सुबह जिसका मुंह देखना पाप है, उसके हाथ से देवनन्दन ने जल ग्रहण किया। डूब गया...देवनन्दन का खानदान डूब गया। अब उससे खान-पान का नाता रख कौन अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा!'

विवाहिता लड़की बोली—

'यह बात शहर भर में फैल गई होगी। दो-चार आदमी जानते होते तो छिपाते भी। सुबह उस तुर्किन का आदमी चोटी पकड़कर धो-धो पीटता हुआ उसे ले जा रहा था। सबने देखा, सब जान गये।'

बस। दूसरे दिन मुहल्ले के मुखिया ने देवनन्दन को बुलाकर कहा—'देखो भाई, अब तुम अपने लिए किसी दूसरे कुएं से पानी मंगाया करो।'

क्यों?

'तुम अब हिन्दू नहीं, मुसलमान हो। दो महीने तक मुसलमान से पानी भराने और चौका-बर्तन कराने के बाद भी क्या तुम्हारा हिन्दू रहना संभव है?'

'मैंने कुछ जान बूझकर तो मुसलमानिन के हाथ का पानी पिया नहीं। उसने मुझे धोखा दिया। इसमें मेरा क्या अपराध हो सकता है?'

'भैया मेरे, हम हिन्दू हैं। कोई जान-बूझकर गो-हत्या करने के लिए गाय के गले में रस्सा नहीं बांधता। फिर भी बंधी हुई गाय के मरने पर बांधने वाले को हत्या लगती है। प्रायश्चित करना पड़ता है।'

'यह ठीक है। उसके जाने के बाद ही मैंने तमाम मकान साफ कराया, लिपाया-पोताया है। मिट्टी के बर्तन बदलवा दिये हैं। धातु के बर्तनों को आग से शुद्ध कर लिया है। इस पर भी जो कुछ प्रायश्चित कराना हो, करा लो। मैं कहीं भागा तो जा नहीं रहा हूं।'

प्रायश्चित चर्चा चलने पर व्यवस्था के लिए पुरोहित और पण्डितों की पुकार हुई। बस, ब्राह्मणों ने चारों वेद, छः शास्त्र, छत्तीसों स्मृति और अठारहों पुराण का मत लेकर यह व्यवस्था दी कि 'अब देवनन्दन पूरे म्लेच्छ हो गये। यह किसी तरह भी हिन्दू नहीं हो सकते।'

उधर देवनन्दन की दुर्दशा का हाल सुनकर मुसलमानों ने बड़ी प्रसन्नता से अपनी छाती खोल दी। कस्बे के सभी प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित मुसलमानों ने देवनन्दन को अपनी ओर बड़े प्रेम, बड़े आदर से खींचा।

'चले आओ, हम जात-पांत नहीं, केवल हक को मानते हैं। इसलाम में मुहब्बत भरी हुई है। खुदा गरीबपरवर है। हिन्दुओं की ठोकर खाने से अच्छा है कि हमारी पलकों पर बैठो...मुसलमान हो जाओ।'

लाचार, समाज से अपमानित, परित्यक्त, पतित देवनन्दन सपरिवार अल्ला मियां की शरण में चले गये। वह और करते ही क्या! मनुष्य स्वभाव से ही सहानुभूति

चाहता है, प्रेम चाहता है। हिन्दू समाज ने इन सब दरवाजों को देवनन्दन के लिए बन्द कर दिया। इतना हो जाने पर उनके लिए मुसलमान होने के सिवा दूसरा कोई पथ ही नहीं था। देवनन्दन, उल्फत अली बन गये और उनका पुत्र रघुनन्दन, इनायत अली।

देवनन्दन की छाती पर समाज ने ऐसा क्रूर धक्का मारा कि धर्म-परिवर्तन के नौ महीने बाद ही वे इस दुनिया से कूच कर गये।

(3)

जिन दिनों की घटना ऊपर लिखी गई है, उन्हें भूत के गर्भ में गये सात वर्ष हो गये। तब से हमारे कस्बे की हालत अब बहुत कुछ बदल-सी गई है। पहले हमारे यहां सामाजिक या राजनीतिक जीवन बिल्कुल नहीं था। सभी पेट के धन्धे की धुन में व्यस्त थे। उन दिनों हमारी दस हजार की बस्ती में क्लब या सोसायटी के नाते तहसील का अहाता मात्र था, जहां नित्य सायंकाल नगर के दस-पांच चापलूस धनी तहसीलदार से हें-हें करने के लिए या टेनिस खेलने के लिए एकत्र हुआ करते थे। आर्य समाज का बदनाम नाम तो घर-घर था, मगर सच्चा आर्य समाजी एक भी न था। एक सज्जन आगरे के 'आर्यमित्र' के ग्राहक थे। स्वामी दयानंद का नाम लेकर कभी-कभी नवयुवकों के विनोद के साधन बना करते थे। वह बनते तो थे आर्य-समाजी, मगर बिलकुल मौखिक। हमें ठीक याद है; वह पुराने समाज की सभी प्रथा या कुप्रथाओं को मानते थे। एक बार उनकी स्त्री ने उनसे सत्यनारायण की कथा सुनने का आग्रह किया और उन्होंने अस्वीकार कर लिया। बस, इसी बात पर आर्य-समाजी पति के मुख पर सनातनी चण्डी झाड़ू फेरने, कालिख लगाने और चूना करने को तैयार हो गई। तीन दिनों तक मुहल्ले वालों की नींद हराम हो गई। विवश होकर 'महाशय जी' को स्त्री के आगे झुकना पड़ा।

मगर अब कस्बे का वातावरण बिलकुल परिवर्तित हो गया है। गत असहयोग आंदोलन के प्रसाद से हमारा कस्बा भी बहुत कुछ जीवित हो उठा है। अब हमारे यहां बाकायदा आर्य समाज भवन है, और हैं उसके मन्त्री तथा सभापति। एक पुस्तकालय भी है। हिन्दी के अनेक पत्र, अंग्रजी के दो-तीन दैनिक आते हैं। सैकड़ों बालक, युवक और वृद्ध अखबार-जीवी बन गये हैं। ऐसे अखबार जीवियों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है।

उस दिन आर्य समाज के मंत्री पण्डित वासुदेव शर्मा समाज भवन में ही बैठे कोई उर्दू अखबार पढ़ रहे थे। भवन के बाहर बरामदे में दो पंजाबी महाशय पायजामा और कमीज पहने सायं सन्ध्या कर रहे थे। उसी समय एक दुबला-पतला लम्बा-सा पुरुष भवन में आया। उसकी आहट पा शर्माजी ने चश्माच्छादित आखों से उसकी ओर देखा। पहचान गये—

'कहो मियां इनायत अली, आज इधर कैसे?'

'आप ही की सेवा में कुछ निवेदन करने आया हूं।'

शर्माजी ने चश्मा उतार लिया। उसे कुरते के कोने से साफ करने के बाद पुनः नाक पर चढ़ाते-चढ़ाते बोले—

'भाई इनायत, बड़ी शुद्ध हिन्दी बोलते हो?'

'जी हां, शर्मा जी, मैं बहुत शुद्ध हिन्दी बोल सकता हूं। इसका कारण यही है कि मेरी नसों में बहुत शुद्ध हिन्दू रक्त बह रहा है। समाज ने जबर्दस्ती मेरे पिता को मुसलमान होने के लिए विवश किया, नहीं तो आज मैं भी उतना ही हिन्दू होता जितने आप या कोई भी दूसरा हिन्दुत्व का अभिमानी। खैर, मुझे आप से कुछ कहना है...।'

'कहिए क्या आज्ञा है?'

'मैं पुनः हिन्दू होना चाहता हूं।'

'हिन्दू होना?' आश्चर्य से मुख विस्फारित कर शर्मा जी ने पूछा।

'जी हां! अब मुसलमान रहने में लोक-परलोक दोनों का नाश दिखाई पड़ता है। इसलिए नहीं कि उस धर्म में कोई विशेषता नहीं है, बल्कि इसलिए कि मेरा और मेरे परिवार का हृदय मुसलमान धर्म के योग्य नहीं। अनंत काल का हिन्दू-हृदय-हिन्दू सभ्यता का

पक्षपाती शांत हृदय—मुसलमानी रीति-नीति और सभ्यता का उपयोग करने में बिलकुल अयोग्य साबित हुआ है। मेरी स्त्री नित्य प्रातःकाल खुदा-खुदा नहीं राम-राम जपती है। मैं मुसलमान रहकर क्या करूंगा? मेरी माता गंगा-स्नान और बदरिकाश्रम यात्रा के लिए तड़पा करती है। मेरा हृदय न तो उन्हें मक्का-मदीना का भक्त बनाने की धृष्टता कर सकता है और न वह बन सकती है। मैं मुसलमान रहकर क्या करूंगा? मैं स्वयं मसजिद में जाकर हृदय के मालिक को याद नहीं कर सकता। मेरा हिन्दू हृदय मसजिद के द्वार पर पहुंचते ही एक विचित्र स्पन्दन करने लगता है। उस स्पन्दन का अर्थ खुदा और मसजिद वाले के प्रति अनुराग नहीं हो सकता, घृणा भी नहीं हो सकती। वह स्पन्दन घृणा और अनुराग के मध्य का निवासी है। इन्हीं सब कारणों से बहुत सोच-समझकर अब मैंने शुद्ध होकर हिन्दू होने का निश्चय किया है।'

पंजाबी महाशय भी संध्या समाप्त कर ओऽम-ओऽम करते हुए भीतर आ गये। शर्मा जी ने इनायत अली उर्फ रघुनंदन का परिचय देते हुए उनके प्रस्ताव पर उन दोनों महाशयों की सम्मति मांगी।

'धन्य हो महाशय जी।' एक महाशय बोले—'ऋषि दयानन्द की किरपा होगी तो हमारे वे सब बिछड़े भाई एक न एक दिन फिर अपने आर्य धरम में चले आयेंगे। इन्हें जरूर शुद्ध कीजिए।'

(4)

हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य का बाजार गर्म होने के एक महीना पूर्व एक विचित्र पुरुष हमारे कस्बे में आये। उनकी अवस्था पचास वर्षों से अधिक जान पड़ती थी। वह वस्त्र के नाम पर केवल लंगोटी धारण किया करते थे। वही उसकी सारी गृहस्थी और सम्पत्ति थी। उनका मुख तो रोबीला नहीं था, पर उस पर विचित्र आकर्षण दिखाई देता था। दाढ़ी फुट भर लम्बी थी। सर के बाल भी बड़े-बड़े थे।

उनमें एक ऐसा चमत्कार था, जिससे कस्बे के छोटे-छोटे लड़के उन पर जान दिया करते थे। हां, उनका नाम बताना तो भूल गया। वह अपने को 'खुदाराम' कहा करते थे। खुदाराम गली में आये हैं, यह सुनते ही लड़कों की मण्डली जान छोड़कर उनकी ओर झपट पड़ती—'खुदाराम, पैसे दो! खुदाराम, पैसे दो!' की आवाज से गली गूंज उठती थी। पहले तो खुदाराम दो-चार बार लड़कों को मुंह बिगाड़-बिगाड़कर डराने की कोशिश करते, फिर दो-तीन बच्चों को पीठ पर चढ़ाकर बगल में दबाकर या कन्धों पर उठाकर भाग खड़े होते 'भागो! भागो! हो हो हो हो? लेना जी?' आदि कहते हुए अन्य लड़के खुदाराम को घेर लेते। अन्त में लाचार हो वह खड़े हो जाते, बच्चों को पीठ या कन्धे के नीचे उतार देते और पूछने लगते—

'बन्दरो! क्या चाहिए?'

'पैसे खुदाराम, पैसे!'

खुदाराम बड़े जोर से हंसते-हंसते खाली मुट्ठी को बन्द कर इधर-उधर हाथ चलाने लगते। चारों ओर झन्न-झन्न की आवाज गूंज उठती। लड़के प्रसन्न होकर पैसे लूटने लगते और खुदाराम नौ दो ग्यारह हो जाते।

खुदाराम को सबसे अधिक इन लड़कों ने मशहूर किया।

इसके बाद एक घटना और हुई, जिससे उनकी शोहरत चौगुनी बढ़ गई। किसी गरीब चमार के पांच वर्ष के पुत्र को हैजा हो गया था। उसके पास वैद्य, हकीम या डाक्टर बाबू के लिए पैसे नहीं थे। कई जगह जाने पर भी किसी ने अभागे की सुध न ली। बेचारा लड़का उपचार के अभाव में मरने लगा।

उसी समय उधर से खुदाराम लड़कों की मण्डली के साथ गुजरे। चमार की स्त्री को दरवाजे पर बैठकर रोते देख, वह उसके सामने जाकर खड़े हो गये। पूछने लगे—

'क्यों रो रही है?'

स्त्री ने उत्तर तो कुछ न दिया, हां, स्वर को 'पंचम' से 'निषाद' कर दिया।

'क्यों रोती है? बोलती ही नहीं, तुझे भी पैसे चाहिए?'

'पैसे नहीं', स्त्री ने इस बार हिचकते-हिचकते उत्तर दिया, 'दवा चाहिए। मेरा लाल हैजे से मर रहा है!'

'तेरे बच्चे को हैजा हो गया है? पगली कहीं की। इतना खाना क्यों खिला दिया? मुझे तो कभी कुछ खिलाती नहीं। कुछ खिला तो तेरा बच्चा अभी चंगा हो जाये।'

'बाबा, मेरे घर में तुम्हारे खाने लायक है ही क्या? कहो तो चने खिलाऊं।'

'ला, ला। जो कुछ भी हो, दौड़कर ले आ। तेरा बच्चा अभी अच्छा हो जायेगा।'

स्त्री अपने मकान में गयी और एक छोटी-सी पोटली में पाव-डेढ़ पाव भुने चने ले आयी। खुदाराम ने पोटली लेकर बालक-मण्डली को चने दान करना आरम्भ किया। देखते-देखते पोटली साफ हो गई। केवल चार-पांच चने बच रहे। स्त्री के हाथ में देते हुए उन्होंने कहा—

'इन चनों को पीसकर बच्चे को पिला दे। यह उसका हिस्सा है। ले जा!'

दूसरे दिन उसी चमारिन ने कस्बे भर में यह बात मशहूर कर दी कि खुदाराम पागल नहीं, होशियार है। मामूली आदमी नहीं, फकीर है, देवता है।

फिर तो हिन्दू-मुसलमान दोनों जाति के लोगों ने विशेषतः स्त्रियों ने खुदाराम को न जाने क्या-क्या बना डाला। कितनों के बच्चे उनकी ऊटपटांग औषधियों से अच्छे हो गये। कितनों को खुदाराम की कृपा से नौकरी मिल गई। कितने मुकदमें जीत गये। कस्बा उन्हें पूजने लगा।

मगर, खुदाराम ज्यों के त्यों रहे। उनका दिन-रात का चारों ओर लड़कों की मण्डली के साथ घूमना न रुका। अच्छे से अच्छे धनी भी उन्हें कपड़े न पहना सके। किसी के आग्रह करने पर वह कपड़े-धोती, कुरता-टोपी पहन तो लेते, मगर उसके घर से आगे बढ़ते ही टोपी किसी लड़के के मस्तक पर होती, धोती किसी गरीब के झोपड़े पर और कुर्ता किसी भिखमंगे के तन पर। किसी-किसी दिन दो-दो बजे रात को किसी गली में खुदाराम की कण्ठ-ध्वनि सुनायी पड़ती—

तू है मेरा खुदा, मैं हूं तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहां ?

(5)

सात आदमी आपस में बात करते हुए समाज भवन की ओर जा रहे थे। उनमें एक तो समाज के मंत्री महाशय थे, दो हमारे परिचित पंजाबी और चार बाहर से आये हुए दूसरे आर्य समाजी थे। बातें इस प्रकार हो रही थीं—

'मुसलमान लोग भरसक इनायत अली को हिन्दू न होने देंगे।'

'क्यों न होने देंगे? अजी, अब वह जमाना लद गया। यहां के सभी हिन्दू हमारे साथ हैं।'

'अगर इस बात को लेकर कोई लड़े तो लड़े। बेवकूफी का भार लड़ाई छेड़ने वाले पर होगा।'

'अच्छा, हम लोग इनायत के परिवार को लेकर शुद्ध करें, वेद भगवान की सवारी निकालने से लाभ?'

सब एक साथ बोल उठे—'वाह! वेद भगवान की सवारी क्यों न निकालें। हम अपने बिछुडे भाई को पायेंगे। ऐसे मौके पर आनन्द मंगल मनाने से डर क्यों?'

'सवारी पर', पहले महाशय ने कहा—'मुसलमानों ने आक्रमण करने का निश्चय कर लिया है। यह मैं सच्ची खबर सुना रहा हूं।'

'देखो भाई, इस तरह दबने से काम न चलेगा। हम किसी के धार्मिक कृत्यों में बाधा नहीं देते, तो कोई हमारे पथ में रोड़े क्यों डालेगा? फिर, अगर उन्होंने छेड़ा, तो देखा जायेगा। भय के नाम पर धर्म कभी न छोड़ा जायेगा।'

इसी समय बगल की एक गली से लंगोटी लगाये खुदाराम निकले। वह वही गुनगुना रहे थे—

तू है मेरा खुदा, मैं हूं तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहां?

मंत्री महाशय ने पुकारा—

'खुदाराम!'

'चुप रहो!' खुदाराम ने कहा—'मैं कोई युक्ति सोच रहा हूं।''

'कैसी युक्ति सोच रहे हो, खुदाराम? हमें भी तो बताओ।'

'सोच रहा हूं कि क्या उपाय करूं कि खुदा-खुदा में लड़ाई न हो। तुम लोग लड़ोगे?'

'नहीं, लड़ने का विचार नहीं है, पर सवारी जरूर निकलेगी।'

'खाना नहीं खाऊंगा, पर मुंह में कौर जरूर डालूंगा। हा हा हा हा! यही मतलब है न?'

'लाचारी है, खुदाराम।'

'तो धर्म के नाम पर खून की नदी बहेगी? हा हा हा हा। तुम लोग इन्सान क्यों हुए? तुम्हें तो भालू होना चाहिए था। शेर होना चाहिए था, वैसी अवस्था में तुम्हारी रक्त-पिपासा मजे में शान्त होती। धर्म के नाम पर लड़ने वाले इन्सान क्यों होते हैं?'

अपरिचित आगन्तुक आर्यों ने शर्माजी से पूछा—

'क्या यह पागल है?'

'हां-हां', खुदाराम ने कहा—'कुरान नहीं पढ़ा है, इसलिए पागल है, सत्यार्थ प्रकाश नहीं देखा है, इसलिए पागल है, धर्म के नाम खुरेजी नहीं पसन्द करता, इसलिए पागल है, खद्दर का कुर्ता नहीं पहनता है, इसलिए पागल है, लेक्चर नहीं दे सकता, इसलिए खुदाराम जरूर पागल है। हा हा हा हा! खुदाराम पागल है। मुसलमान कहते हैं— 'तू पागल है, इस बीच में न पड़' हिन्दू भी यही कहते हैं। अच्छी बात है—लड़ो! अगर होशियारी का नाम लड़ना ही है तो लड़ो।

तू भी इन्सान है मैं भी इन्सान हूं,
गर सलामत हैं हम, तो खुदाई कहां।
तू है मेरा खुदा, मैं हूं तेरा खुदा,
तू खुदा, मैं खुदा, फिर जुदाई कहां?

खुदाराम नाचता-कूदता 'हो हो हो' करता अपने रास्ते लगा।

(6)

कस्बे के हजारों हिन्दू मर्द आर्य समाज मन्दिर की ओर वेद भगवान के जुलूस में शामिल होने के लिए चले गये। मुसलमान पुरुष भी, पुराने पीर की मस्जिद में, जुलूस में बाधा डालने के लिए तैयार हो गये। हिन्दू और मुसलमान दोनों घरों में या तो बूढ़े थे या बच्चे और स्त्रियां। घर-घर का दरवाजा भीतर से बन्द था।

एक मुसलमान के दरवाजे पर किसी ने आवाज दी—

'मां!'

'कौन है?'

'जरा बाहर आओ, मां! मैं हूं खुदाराम।'

दरवाजा खोलकर बूढ़ी बाहर निकली।

'क्या है खुदाराम? खाना चाहिए?'

'नही मां... आज भीख मांगने आया हूं—देगी न?'

'क्या है फकीर? तुम्हें क्या कमी है? मांगो, तुमने मेरी बेटी की जान बचायी है। हम हमेशा तुम्हारे गुलाम रहेंगे। मांगो क्या लोगे?'

'पहले कसम खा—देगी न?'

'कसम पाक परवरदिगार की। खुदाराम, तुम्हारी चीज़ अगर मेरे इमकान में होगी, तो जरूर दूंगी।'

'तो, चलो मेरे साथ! हम लोग हिन्दू-मुसलमान का झगड़ा रोकें। बच्चों को भी ले लो। मैं मुहल्ले भर की—कस्बे भर की—औरतों-बच्चों की पलटन लेकर दोनों जातियों के पुरुषों पर आक्रमण करूंगा, उन्हें खुदा या धर्म के नाम पर लड़ने से रोकूंगा।'

मुसलमान जननी अवाक्-सी खड़ी रह गई! खुदाराम कहता क्या है?

'चुप क्यों हो गई, मां? तूने मुझे भीख देने की कसम खायी है। मैं तेरे हित की बात कहता हूं! इस

रक्तपात में पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के कलेजे का खून बहाया जाता है। स्त्रियां विधवा होती हैं, माताएं अपने बच्चे खोती हैं, बहिने अपमानित होती हैं। पुरुषों की यह ज्यादती तुम्हीं लोगों के रोके से रुकेगी। चलो! उन पत्थरों के आगे रोओ और उन्हें लड़ने से रोको। उन्हें बताओ कि तुम्हारे शरीर तुम्हारी माताओं की धरोहर हैं। उनकी इच्छा के विरुद्ध उनका नाश करनेवाले तुम कौन हो? देर न करो, नहीं तो सब चौपट हो जायेगा।'

एक ओर उत्तेजित मुसलमान खुदा के नाम पर ईंट और डंडे चलाने पर उतारू थे, दूसरी ओर हिन्दू वेद भगवान का जुलूस शुद्ध (इनायत अली) रघुनन्दन प्रसाद के परिवार के साथ और हजारों हिन्दुओं के साथ मसजिद के पास डटा था। युद्ध छिड़ने ही वाला था कि गंगा की कल-कल धारा की तरह हजारों स्त्रियों की कण्ठ-ध्वनि मुसलमान-दल के पीछे सुनाई पड़ी। पहले खुदाराम गाते और उनके बाद स्त्रियां उसी पद को दुहराती थीं।

तू है मेरा खुदा, मैं हूं तेरा खुदा,
तू खुदा मैं खुदा, फिर जुदाई कहां ?

छोटे-छोटे बच्चों के कण्ठ की उस कोमलता के आगे, माताओं के कण्ठ की करुणधारा के आगे, उत्तेजित युवकों के हृदय की राक्षसता मुग्ध होकर, पुलकित होकर और नतमस्तक होकर खड़ी हो गई! मुसलमान-दल ने स्त्रियों के इस जुलूस के लिए चुपचाप रास्ता दे दिया। हिन्दू दलवाले आंखें फाड़-फाड़कर खुदाराम और उसकी स्वर्गीय सेना की ओर देखने लगे। उस सेना में हरेक हिन्दू और मुसलमान के घर की माताएं और बहिनें, बेटे और बेटियां थीं।

'तुम लोग क्यों यहां आयी ?' मुसलमानों ने भी पूछा। 'तुम लोग क्यों यहां आयी?' हिन्दुओं ने भी प्रतिध्वनि की तरह मुसलमानों के प्रश्नों को दुहराया। एक मुसलमान बूढ़ी आगे बढ़ी—'हम आयी हैं तुम्हें मरने से बचाने के लिए। तुम हमारे बेटे हो, जिन्हें हमने रात-रात भर जागकर, भूखों रहकर, दुआएं मांगकर अपनी आंखों को खुश रखने के लिए, दिल को शांत रखने के लिए इतना बड़ा किया है। तुम्हारे लिए हम खुदा की इबादत करती हैं—तुम्हीं हमारे खुदा हो।'

'यह क्या हो रहा है? धर्म के नाम पर खून बहाने की क्या जरूरत है? तुम्हें यह शरारत किस शैतान ने सिखायी है? बच्चो, तुम्हारी मांएं तुम्हें खोकर अन्धी हो जायेंगी। उनकी जिन्दगी खराब हो जायेगी। बहिश्त पाने पर भी तुम्हें चैन न मिल सकेगा! लड़ो मत! खून से पाजी शैतान भले ही खुश हो जाये, पर खुदा कभी नहीं खुश हो सकता। खुदा अगर खून पसन्द करता, तो हमारे वजू करने के लिए पानी न बनाकर खून ही बनाता। गंगा खूनी गंगा होती, समन्दर खून का समन्दर होता। खून के फेर में न पड़ो, मेरे कलेजे। खुदा खून नहीं पसन्द करता।'

'वेद के पागलो।' खुदाराम ने हिन्दुओं को ललकारा—'चलो, ले जाओ अपना जुलूस? माताएं तुम्हें रास्ता देती हैं।'

मुसलमानों के हाथ के शस्त्र नीचे झुक गये। बाजा बजाने वाले बाजा बजाना भूल गये। माताओं ने रास्ता बनाया और वेद भगवान की सवारी—हजारों मंत्र-मुग्ध हिन्दुओं के साथ निकल गयी।

सावन के बादल की तरह मधुर ध्वनि से खुदाराम पुनः गरजे, माता वसुन्धरा की तरह माताओं के हृदय से पुनः प्रतिध्वनि हुई—

तूने मन्दिर बनाया, तू भगवान है।
मैंने मसजिद उठायी, मैं रहमान हूं।
तू भी भगवान है, मैं भी भगवान हूं,
तू खुदा, मैं खुदा फिर जुदाई कहां?

इस पवित्र जुलूस के नेता थे खुदाराम, उनके पीछे हिन्दू-मुसलमान बच्चे, बच्चों के पीछे दोनों जाति की माताएं और सबसे पीछे मुसलमान पुरुष—जुलूस के सशस्त्र रक्षकों की तरह चल रहे थे। प्रकृति पुलकित कलेवरा थी, तारिकाएं खिलखिला रही थीं, चन्द्रमा हंस रहा था। वह दृश्य पृथ्वी का स्वर्ग था।

(श्री जैनेन्द्र कुमार संपादित '23 हिन्दी कहानियां से साभार)
(पारख प्रकाश 30 वर्ष पूर्व)

बीजक चिंतन

तृतीय प्रकरण : ज्ञान चौंतीसा

ॐ पर विचार

ॐकार आदि जो जानै।
लिख कै मेटै ताहि सो मानै॥
ॐकार कहैं सब कोई।
जिन्ह यह लखा सो बिरला होई॥

शब्दार्थ—आदि=मूल, आरम्भक।

भावार्थ—जो यह जानता है कि ॐकार का मूल मनुष्य है, वह यह मानता है कि मनुष्य ही कागज या पाटी पर ॐ लिखकर पुनः उसे काट देने में समर्थ है। ॐ-ॐ तो प्रायः सभी कहते हैं, परन्तु जिसने इसकी वास्तविकता की परीक्षा की, वह बिरला है।

व्याख्या—ॐ इत्यादि शब्द एवं क से ह तक जितने वर्ण हैं सब मनुष्य के कंठ, तालु, दंत, ओष्ठ आदि से उच्चरित होते है।[1] वर्णों के आकार, मात्रा, संधि आदि के स्वरूप का निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है। उपर्युक्त ककारादि स्वतन्त्र वर्णों के द्वारा जितनी भाषाएं बनायी गयी हैं, सब काल्पनिक रूढ़ियां हैं और जितनी लिपियां हैं, सांकेतिक चिन्ह हैं। इनका निर्धारण करने वाला मनुष्य जीव ही है।

वैदिक आर्यों में पूजा[2] की पद्धति नहीं थी। वे पूजा शब्द भी नहीं जानते थे। अतएव मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हां, वे आगे चलकर उपासना करने लगे थे, जो मन को एकाग्र करने का प्रयास है। आरम्भिक साधक को कोई अवलम्ब चाहिए। अतः उन्होंने 'ॐ' की कल्पना की। मनुष्य खा-पीकर जब खाट पर लेटने जाता है तब प्रायः कहता है 'ओम'। गाय-बैल भी अपनी इच्छा व्यक्त करने के लिए जब बोलते हैं तब उनके मुख से आवाज निकलती है 'ओं-ओं'। मनुष्य ने इन शब्दों का विकास करके 'ॐ' शब्द की कल्पना की। वह 'ॐ' को प्रतीक मानकर इसमें मन रोकने लगा। जब कोई वस्तु श्रद्धास्पद होती है, तब उसकी व्याख्या बढ़ने लगती है। अतएव उत्तरोत्तर 'ॐ' की व्याख्या बढ़ने लगी।

ॐ की व्याख्या अनेक ग्रन्थों में अनेक मतों द्वारा अनेक प्रकार से की गयी है। थोड़ी बानगी लें—

"प्रणव का बोध कराने के लिए उसका विश्लेषण आवश्यक है। यहां प्रसिद्ध आगमों की प्रक्रिया के अनुसार विश्लेषण-क्रिया का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है। ओंकार के अवयवों के नाम हैं—अ, उ, म, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादांत, शक्ति, व्यापिनी या महाशून्य समना तथा उन्मना। इनमें से अकार, उकार

---

1. कौन से वर्ण तथा स्वर किस स्थान से उच्चरित होते हैं, इसका वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है–
कंठ से–अ, आ, क, ख, ग, घ, ङ, ह।
तालु से–इ, ई, च, छ, ज, झ, ञ, श।
मूर्द्धा से–ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष।
दंत से–त, थ, द, ध, न, ल, स।
ओष्ठ से–उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म।
कंठ-तालु से–ए, ऐ।
कंठ-ओष्ठ से–ओ, औ।
दंत-ओष्ठ से–व।
(बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी)

2. "आज घर-घर में हवन नहीं, पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप, दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं। एक समय यह समझा जाता था कि पूजा संस्कृत शब्द है, जो 'पूज्' धातु से निकला होगा। किन्तु यह मान्यता अब नहीं चलती। अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं 'पू' और 'जै' (शइ) के योग से बना है। तमिल में 'पू' का अर्थ पुष्प होता है और 'जै' का अर्थ कर्म। अतएव 'पू' और 'जै' के योग का अर्थ पुष्प-कर्म होगा। यहाँ फिर अहिंसा की परम्परा, मूल में, द्राविड़ दिखाई देती है, क्योंकि हवन पशु-कर्म था। पीछे आर्यों के यहाँ भी पशु-कर्म के बदले पुष्प-कर्म का रिवाज चल पड़ा। पूजा के प्रेमी कभी-कभी हवन भी करते हैं, किन्तु अहिंसक ढंग से। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति नूतन अवदानों को ग्रहण करने के बाद भी अपना मौलिक रूप हमेशा कायम रखती आयी है।"
(रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 72-73)

और मकार ये तीन सृष्टि, स्थिति और संहार के संपादक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र के वाचक हैं। प्रकारांतर से ये जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण अवस्थाओं के भी वाचक हैं। बिन्दु तुरीय दशा का द्योतक है। प्लुत तथा दीर्घ मात्राओं का स्थितिकाल क्रमशः संक्षिप्त होकर अन्त में एक मात्रा में पर्यवसित हो जाता है। यह ह्रस्व स्वर का उच्चारण काल माना जाता है। इसी एक मात्रा पर समग्र विश्व प्रतिष्ठित है। विक्षिप्त भूमि से एकाग्र भूमि में पहुंचने पर प्रणव की इसी एक मात्रा में स्थिति होती है। एकाग्र से निरोध अवस्था में जाने के लिए इस एक मात्रा का भी भेद कर अर्ध मात्रा में प्रविष्ट हुआ आता है। तदुपरान्त क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर मात्राओं का भेद करना पड़ता है। बिन्दु अर्ध मात्रा है। उसके अनंतर प्रत्येक स्तर में मात्राओं का विभाग है। समना भूमि में जाने के बाद मात्राएं इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि किसी योगी अथवा योगीश्वरों के लिए उसके आगे बढ़ना संभव नहीं होता, अर्थात वहां की मात्रा वास्तव में अविभाज्य हो जाती है। आचार्यों का उपदेश है कि इसी स्थान में मात्राओं को समर्पित कर अमात्र भूमि में प्रवेश करना चाहिए। इसका थोड़ा-सा आभास मांडूक्य उपनिषद् में मिलता है।

"बिन्दु मन का भी रूप है। मात्राविभाग के साथ-साथ मन अधिकाधिक सूक्ष्म हो जाता है। अमात्र भूमि में मन, काल, कलना, देवता और प्रपंच, ये कुछ भी नहीं रहते। इसी को उन्मनी स्थिति कहते हैं। वहां स्वयं प्रकाश ब्रह्म निरन्तर प्रकाशमान रहता है।"[1]

"सृष्टि रचने के पहले सृष्टि-उत्पत्ति के निमित्त जब ईश्वर में इच्छा उठती है तो एक बड़ा घोर शब्द अर्थरहित गूंज के साथ निकलता है, जैसे इंजन में होता है और वह बड़ी देर तक रहता है। उस शब्द को सुनकर जो जीवन्मुक्त ऋषि होते हैं, वे ॐ अथवा 'अ, उ, म' में उसका आरोप कर लेते हैं। और जब वह शब्द फट जाता है, तब उसमें से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तत्त्व सूक्ष्मरूप से निकल आते हैं। फिर वह शब्द शान्त होकर लुप्त हो जाता है। इन आकाशादि पंच तत्त्वों द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होती है। इसीलिए जो कुछ सृष्टि है, सब 'ओंकार' रूप ही है। इस कारण ओंकार की उपासना अति श्रेष्ठ है।

"जब ईश्वर ने जीवों के कर्मफल भोगार्थ सृष्टि रचने की इच्छा की, तो प्रथम शब्द ध्वन्यात्मक ॐ—ऐसा निकला। उसी से उसके पश्चात वर्णात्मक शब्द 'एकोऽहं बहु स्याम्' उत्पन्न हुआ। अर्थात एक अद्वितीय ओंकाररूप ब्रह्म में मैं बहुत प्रकार से होऊं, यह इच्छा होते ही चराचर सृष्टि हो गयी। इसलिए जितनी सृष्टि है चाहे प्रकट भाव से हो या अप्रकट भाव से हो वह सब ब्रह्म ही है अथवा ॐकार रूप है। वेदों में जो ऋचा के पहले या पीछे ॐ का प्रयोग किया जाता है वह यह बताता है कि जो कुछ ॐ शब्द के पश्चात कहा जायेगा या पीछे कहा गया है, वह सब ओंकार रूप ही है, उससे पृथक कोई वस्तु नहीं है। ॐकार में तीन अक्षर हैं—'अ+उ+म'। 'अ' का अर्थ है—जाग्रत का अभिमानी देवता विश्व, 'उ' का वाच्य है—स्वप्न का अभिमानी देवता तैजस, तथा 'म' से बोध्य है—सुषुप्ति का अभिमानी देवता प्राज्ञ। तात्पर्य यह है कि तीनों अवस्थाओं के जो पृथक-पृथक अभिमानी देवता हैं, वे ॐकार रूप ही हैं, मायाविशिष्ट ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट ये भी ॐकार रूप ही हैं। भाव यह कि ईश्वर से लेकर तृण पर्यन्त सब ॐकार रूप ही है।"[2]

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् इति।'[3]

'ओम' यह अक्षर ही यह सारा जगत है।

अब हम उक्त बातों पर थोड़ी समीक्षा करें—सृष्टि के आदि में जो शब्द हुआ, उसमें जीवन्मुक्तों ने ॐ का आरोप किया। सृष्टि के प्रथम जीवन्मुक्त कहां रहते थे? उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि यह स्थावर-जंगम समस्त विश्व ॐ ही है। अब यदि मुमुक्षु को

1. हिन्दी विश्व कोश, नागरी प्रचारिणी काशी।
2. कल्याण, उपासना-अंक, वर्ष 42, पृष्ठ 182।
3. मांडूक्य उपनिषद्, मंत्र 1।

संसार का अध्यास छोड़ना है तो ॐ को छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि ॐ और जगत दो वस्तु नहीं हैं।

ॐ, ब्रह्म, जगत—एकार्थ बोधक हैं, अर्थात उक्त तीनों शब्दों का तात्पर्य एक है। जो ॐ और ब्रह्म दुखपूर्ण जगत ही है, विवेकियों के लिए वह कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। वास्तव में ॐ को कागज और पाटी पर लिखने तथा काट देने वाला यह मनुष्य जीव ही स्वतन्त्र है। सारी कल्पनाएं इसी की हैं; अतः मनुष्य जीव ही सर्वोपरि है, ॐ नहीं।

कबीर साहेब भावना में बहने वाले व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु वे तथ्यपरक विचार के पक्षधर हैं। अतएव वे भावना के कुहासे को छांटकर वास्तविकता का दिग्दर्शन कराते हैं। वे कहते हैं 'ॐ' शब्द की कल्पना मनुष्य ने की। वही पाटी और कागज पर उसे लिखता तथा वही उसे काटकर मिटाता है। इसलिए मनुष्य ही 'ॐ' का मूल है, सिरजक है। इतनी-सी बात जो नहीं समझ सकता, वह अध्यात्म को क्या समझ सकता है! मनुष्य की आत्मा सर्वोच्च है। ॐ तो मनुष्य का कल्पित शब्द मात्र है। कबीर देव ने अन्यत्र भी कहा है—"मैं तोहि पूछौं पंडिता, शब्द बड़ा की जीव।"[1]

आरम्भ में साधक अपने मन को एकाग्र करने के लिए अपने मतानुसार नाद, बिन्दु, ॐ, किसी महापुरुष का चित्र आदि कुछ भी ले उसके लिए यहां कोई खण्डन नहीं किया जा रहा है। अनर्थ है इन सब कल्पित अवधारणाओं को सर्वोच्च मान लेना और अपने स्वरूपभाव को भूल जाना। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य की अपनी आत्मा सर्वोपरि है और मानवतावादी कबीर देव का यही निर्देश है।

सद्गुरु ने इस ज्ञान चौंतीसा प्रकरण में प्रायः परमत-खण्डन से हटकर स्वरूपज्ञान, वैराग्य, मनोनिग्रह एवं साधनात्मक बातें कही हैं, जो बड़ी मार्मिक हैं। क से क्ष तक चौंतीस अक्षरों को माध्यम बनाकर ग्रन्थकार ने जो ज्ञानगंगा बहायी है उसमें साधक को निमज्जन करना चाहिए।

1. बीजक, साखी 22।

स्वरूपज्ञान और स्वरूपस्थिति

क

कका कँवल किर्ण में पावै।
शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै॥
तहां कुसुम रंग जो पावै।
औगह गहि के गगन रहावै॥ 1॥

शब्दार्थ—कँवल=कमल, हृदय। किर्ण=किरण, रश्मियां, प्रकाश, ज्ञान। शशि=चन्द्रमा, मन। ब्रिगसित=विकसित, जाग्रत। सम्पुट=बंद होना, जड़ता। कुसुम रंग=पीला रंग, स्वर्ण रंग, तात्पर्य में तथ्य। औगह=मन-वाणी से परे। गगन=हृदय।

भावार्थ—'क' अक्षर कहता है, अर्थात सद्गुरु कबीर क अक्षर को माध्यम बनाकर उपदेश करते हैं कि हे साधक! हृदय-कमल के ज्ञान-प्रकाश में ही तुम स्वरूप का बोध पाओगे, किन्तु शर्त यह है कि तुम्हारा मन विकसित एवं प्रबुद्ध हो। वह विषय-वासनाओं में सुप्त न हो जाये। ज्ञान से प्रकाशित हृदय में जब स्वर्णिम स्वरूपबोध प्राप्त करो, तब उस अग्राह्य ध्येय-वस्तु को ग्रहणकर हृदय में स्थित रहो॥1॥

व्याख्या—क अक्षर से सद्गुरु ने कमल लिया है, जो तात्पर्य में हृदय है। मनुष्य का हृदय-कमल ज्ञान-प्रकाश का पुंज है। परन्तु वह विषय-वासनाओं के परदे से ढका है। जब वह परदा हटता है, तब मनुष्य का हृदय ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है। ऐसे आलोकित हृदय में ही स्वरूपबोध, आत्मबोध एवं तत्त्वबोध होता है। विकारों से भरे हुए मन में स्वरूपबोध नहीं हो सकता। सत्संग, गुरु-उपासना, सेवा, विनम्रता, भक्ति आदि से हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदय में विवेक जाग्रत होता है। जिसका विवेक सदैव जगा रहता है उसका हृदय प्रकाशित रहता है। जिसका हृदय सदैव ज्ञान से प्रकाशित रहता है, वही 'स्व' और 'पर' के भेद को समझकर 'पर' से 'स्व' को छुड़ा लेता है। 'पर' जड़ है, भास है, पांच विषय है, दृश्य है; और 'स्व' चेतन है, भास्कर है, द्रष्टा एवं ज्ञानरूप है। पर से मुक्त होकर 'स्व'

में स्थित होना ही मानव की आत्मा की सहज मांग है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि तुम्हें आत्मबोध एवं आत्मसंतोष की प्राप्ति अपने ज्ञानालोकित हृदय में ही होगी।

स्वरूपज्ञान एवं स्वरूपस्थिति की निरंतरता बनी रहे, इसके लिए शर्त है "शशि ब्रिगसित सम्पुट नहिं आवै" अर्थात मन सदैव जाग्रत रहे। वह विषयों में मूढ़ एवं सुप्त न बने। शशि कहते हैं चन्द्रमा को। चन्द्रमा मन का देवता माना गया है। इसलिए यहां चन्द्रमा से अर्थ मन है। तेरहवीं रमैनी में भी जहां कहा गया है "ओछी मति चन्द्रमा गौ अथई" वहां भी चन्द्रमा का अर्थ मन ही है। सद्गुरु कहते हैं कि साधक का मन सदैव विकसित, चिन्तनशील, विवेकशील एवं जाग्रत रहना चाहिए। साधक सदैव अपने मन पर सावधान रहे। उसे विषयों के स्मरणों में न डूबने दे। अन्यथा वह इसी में प्रसुप्त हो जायेगा। विषयों में डूबा मन स्वरूपज्ञान तथा स्वरूपस्थिति के योग्य नहीं रह जाता। अतएव साधक को चाहिए कि वह एकरस स्वरूपस्थिति को बनाये रखने के लिए अपने मन को जाग्रत रखे।

"तहां कुसुम रंग जो पावै" यहां कुसुम रंग का शाब्दिक अर्थ न लगाकर लाक्षणिक अर्थ समझना चाहिए। कुसुम रंग का अर्थ यहां पीला रंग नहीं है, किन्तु शुद्ध स्वरूपज्ञान है। साखी प्रकरण में सद्गुरु ने कहा है "हंसा तू सुवर्ण वर्ण"[1] यह सुवर्ण वर्ण या स्वर्णिम रंग पीला रंग नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप है। अतएव सद्गुरु कहते हैं कि जब तुम्हें अपने शुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो, तब उसे धारणकर शांत हो जाओ।

"औगह गहि के गगन रहावै" अपना स्वरूप अपने आप को अग्राह्य है, परन्तु उसे ही ग्रहण करके शांत होना है। प्रश्न होता है कि अग्राह्य ग्राह्य कैसे हो सकता है? उत्तर साफ है। हम अपने दाहिने हाथ को दाहिने हाथ से नहीं पकड़ सकते, परन्तु हाथ तो हमारा ही है, ऐसा समझ लें तो हाथ पकड़ा हुआ ही है। हम अपनी आंखों से अपनी आंखें नहीं देख सकते; किन्तु अन्य को देखने से यह स्वतः सिद्ध है कि हमारी आंखें हैं। अपने चेतनस्वरूप को अलग से पकड़ने की बात ही असंभव है, किन्तु 'मैं ही चेतनस्वरूप हूं' इसको तत्त्व से समझ लेने पर वह पकड़ा हुआ हो गया। इसलिए 'औगह' को ही 'गहना' है। जो पकड़ने में नहीं आता उस स्वस्वरूप को ही पकड़ना है। अर्थ है समझकर शांत होना।

"गगन रहावै" का अर्थ है हृदय में शांत रहे। हृदय ही चेतन हंस का आकाश है। श्रुति भी कहती है "वह आत्मा हृदय में है। 'हृदय' को 'हृदय' कहते भी इसलिए हैं, क्योंकि 'हृदि+अयम्' वह हृदय में है। जो इस रहस्य को दिन प्रतिदिन जानता है, वह उसे बाहर ढूंढ़ने के स्थान में हृदय के भीतर ढूंढ़ता है और वहीं मानो स्वर्ग को पा लेता है।"[2]

तुम्हारे शत्रु तुम्हारे दोष हैं, उन्हें जीतो

ख

खखा चाहै खोरि मनावै।
खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै॥
खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये।
होय न खीन अक्षयपद लहिये॥ 2॥

शब्दार्थ—खोरि=गली, इन्द्रियां, दोष, बुराई। मनावै=सुधार करे। खसमहिं=पति को, मालिक को। खसमहिं=दुश्मन को, शत्रु को। खसम अरबी शब्द है, इसके अर्थ पति और शत्रु, दोनों होते हैं।

भावार्थ—ख अक्षर के माध्यम से सद्गुरु उपदेश करते हैं कि यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करो तथा उनमें पड़े हुए दोषों का सुधार करो। क्योंकि यह मनोवृत्ति चेतनस्वरूप-पति को छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। तुम्हारी बुराइयां ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन्हें छोड़ दो और

1. बीजक, साखी 14।

2. स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृद्ययमिति।
तस्माद्हृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥
(छांदोग्य उप. 8/3/3, सत्यव्रत सिद्धांतालंकार की टीका)

दूसरों द्वारा अपने ऊपर किये गये आघात के अपराध को क्षमा करो। फिर तुम पतित नहीं होओगे, प्रत्युत अविनाशी-पद को प्राप्त करोगे ॥ 2 ॥

व्याख्या—जो मनुष्य अपने जीवन में खैर, शांति, मंगल चाहे, उसका पहला काम है कि वह अपने मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में करे। दोषों का सुधार एवं बुराइयों का त्याग किये बिना और मन तथा इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना किसी को भी जीवन में शांति नहीं मिल सकती। जो तथाकथित धार्मिक गुरु मोक्ष के सस्ते नुस्खे बांटते घूमते हैं और सारी बुराइयों में डूबे रहने पर भी केवल छूमंतर से मोक्ष देते हैं, वे साधकों को भ्रम में डालते हैं। कबीर साहेब महंगे गुरु हैं, वे किसी को धोखा देना नहीं जानते, अपितु खरी-खरी बातें कहते हैं। वे कहते हैं, दोषों का त्याग तथा मन-इन्द्रियों को अपने वश में किये बिना कल्याण है ही नहीं।

'खसम'[1] अरबी भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ 'पति' एवं मालिक है और 'शत्रु' भी है। ये दोनों इसके परिनिष्ठित अर्थ हैं। जबर्दस्त भाषाशिल्पी कबीर साहेब ने यहां पहली पंक्ति में खसम का अर्थ 'पति' और दूसरी पंक्ति में खसम का अर्थ 'शत्रु' मानकर उसका यथायोग्य प्रयोग किया है। वे कहते हैं "खसमहिं छाँड़ि दहूँ दिशि धावै" अर्थात यह मनोवृत्ति पति—चेतन देव का स्मरण छोड़कर दसों दिशाओं में भटकती है। यह चेतन जीव ही तो सारे ज्ञान-विज्ञान का पति है। परन्तु विषयी मन स्व-स्वरूप चेतन का स्मरण छोड़कर विषयों में भटकता है। इसलिए इन्द्रिय-विषयों एवं बुराइयों का त्याग अत्यन्त आवश्यक है। विषय-त्याग से मन निर्मल होगा और आत्मचिन्तन का अनुरागी होगा।

संसारी लोगों के जीवन में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएं हैं ही, किन्तु साधक तथा विवेकवान को भी अपने जीवन में ऐसे लोग मिलते हैं जो अपने अज्ञान एवं ईर्ष्यावश उनके साथ शत्रुता का बरताव करते हैं। सद्गुरु कहते हैं कि ऐसे भटके लोग तुम्हारे साथ भले ही शत्रुता का बरताव करें, परन्तु वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। क्योंकि वे तुम्हारी आध्यात्मिक हानि नहीं कर सकते। अतएव उन पर दया करो और उन्हें हृदय से क्षमा कर दो। शत्रु तो तुम्हारे दोष हैं, तुम्हारे मन-इन्द्रियों की बुराइयां हैं। तुम उन्हें छोड़ो। "खसमहि छाड़ि छिमा हो रहिये।" अर्थात अपने दोषरूपी शत्रुओं को छोड़ो और अपने भूलवश जो लोग तुम्हारी आलोचना में लगे हैं; उन्हें क्षमा करो। वे तुम्हारे शत्रु नहीं हैं। वे तुम्हारा कोई नुकसान नहीं कर सकते। तुम्हारा पतन तो तुम्हारी बुराइयां करती हैं। तुम्हारी मन-इन्द्रियों की लंपटता तुम्हारे पतन का कारण है।

तुम अपनी कमजोरियों, बुराइयों, इन्द्रियलंपटताओं, मन की चंचलताओं को छोड़ दो, तो अन्य कोई तुम्हारा पतन नहीं कर सकता। "होय न खीन अक्षय पद लहिये" जिसने अपने में रहे हुए दोषों का त्याग कर दिया, उसको पतित करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। वह अक्षयपद का अधिकारी होता है। प्रत्यक्ष है, संसार में जिसने दोषों को जीतकर आत्मविजय प्राप्त की वह अक्षय एवं अमृतपद का अधिकारी हुआ। अपने विरोधियों से लड़-लड़कर किसी को आत्मसंतोष नहीं मिल सकता है, किन्तु अपनी बुराइयों को छोड़कर तथा विरोधियों को दिल से क्षमा कर ही आत्मसंतोष मिल सकता है। यही अक्षयपद, मोक्षपद, निर्वाणपद का रास्ता है। श्रुति भी कहती है कि मोक्ष को वही देखता है, वही पाता है, जो क्षीण-दोष है।[2]

1. संस्कृत भाषा में 'ख' का मुख्य अर्थ शून्य एवं आकाश किया गया है। उसमें 'सम' मिलाकर आकाश के समान अर्थ होगा। किन्तु कबीर साहेब ने अपनी वाणियों में प्रायः अरबी भाषा के खसम का ही प्रयोग किया है।

2. यं पश्यंति यतयः क्षीणदोषाः। मुंडकोपनिषद् 3/1/5 ।

पत्थर और शून्य में भगवान है,
यह समझाने में
धर्म सफल रहा है।
परन्तु, इंसान में भगवान है
यह समझाने में
धर्म आज भी असफल है।
(इंटरनेट से)

भजन क्या है?

अक्सर कहा जाता है कि हर मनुष्य को समय निकालकर प्रतिदिन कुछ न कुछ भजन जरूर करना चाहिए। भजन के बिना मनुष्य जीवन की सार्थकता नहीं हो सकती।

प्रश्न होता है कि भजन क्या है? और भजन कैसे करना चाहिए? पहली बात तो हमें यह समझना होगा कि दुनिया में अरबों प्राणी हैं, असंख्य योनियां हैं। उन सभी योनियों के प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य ही अधिक समझदार और बुद्धिमान प्राणी है। इसके पास ही मन और वाणी इन दो शक्तियों का विकास हुआ है। मनुष्य के पास ही विवेक है। आत्मा और परमात्मा की परख, जड़ और चेतन का, बंधन और मोक्ष का, सत्य और असत्य का ज्ञान मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त प्राणियों को बंध-मोक्ष का, आत्मा-परमात्मा का, जड़-चेतन का ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि उनके पास मनन करने की शक्ति मन नहीं है, विवेक नहीं है। विवेक द्वारा ही छानबीन होती है। विवेक द्वारा ही अपने और पराये की पहचान होती है।

मनुष्य के पास विवेक होने के कारण मनुष्य ही भजन कर सकता है। मनुष्य के अतिरिक्त कोई भी प्राणी भजन नहीं कर सकता। भोजन तो हर प्राणी को करना होता है। दुनिया में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जिसे भोजन की आवश्यकता न होती हो और भोजन के बिना जिसका जीवन चल जाता हो। भोजन हर प्राणी की मजबूरी है और उसकी व्यवस्था भी प्रकृति की ओर से सबके लिए की गई है। चींटी से लेकर हाथी तक का निर्वाह हो जाता है। सुबह से लेकर शाम तक सबको कुछ न कुछ भोजन प्राप्त हो जाता है।

किन्तु भोजन कर लेने मात्र से जीवन की सार्थकता नहीं है। यह तो एक मजबूरी है। प्राणि मात्र भोजन तो करता है लेकिन प्राणिमात्र भजन नहीं कर सकता। भजन केवल इंसान ही कर सकता है।

यह समझना होगा कि यह मनुष्य जीवन मात्र भोजन करने के लिए नहीं मिला है किन्तु भजन करने के लिए मिला है। यह जीवन वासना की पूर्ति के लिए नहीं मिला है किन्तु उपासना के लिए मिला है। यह जीवन भोग के लिए नहीं किन्तु योग के लिए मिला हुआ है। भोग तो कोई भी प्राणी कर सकता है, वासना की पूर्ति कोई भी प्राणी कर सकता है, उपासना और योग केवल मनुष्य ही कर सकता है।

जीवन का उद्देश्य भोग नहीं योग है, वासना नहीं उपासना है, भोजन नहीं भजन है। किन्तु कितने लोग भोजन और भोग करते हुए भजन और योग में लगते हैं, यह बात अलग है। जैसे अन्य प्राणी बाल-बच्चा पैदा करते हुए जीवन को व्यतीत कर देते हैं वैसे ही अरबों लोग कमा रहे हैं, खा रहे हैं, बाल-बच्चा पैदा कर रहे हैं और इतने में जीवन को समाप्त कर रहे हैं। परिणाम फिर भवचक्र में भटकना होगा। भवचक्र में भटकना बंद होकर इसी जीवन में पूरी आत्मशांति का, आत्मसुख का, आत्मसंतोष का अनुभव कर सकें इसी में जीवन की सार्थकता है।

एक दिन जीवन तो समाप्त होना ही है। कितना भी उपाय कर लें, कितनी युक्तियां निकाल लें लेकिन जीवन को स्थिर नहीं रखा जा सकता। जीवन का अंत आना ही है। किन्तु जिस दिन जीवन का अंत आये उस दिन यह महसूस नहीं होना चाहिए कि इतना अनमोल जीवन मिला था जो करना चाहिए था वह नहीं कर पाया। इसी के लिए भजन की, उपासना की आवश्यकता है। यदि अंतिम बेला में मन में पश्चाताप है तो जीवन व्यापार घाटे में चला गया।

मनुष्य कोई व्यापार करता है तो इसलिए करता है कि व्यापार में मुनाफा हो। एक लाख रुपया लेकर कोई व्यापार शुरू किया गया। छह महिने के पश्चात वह मूल पूंजी घटकर अस्सी हजार रह गई। साल भर के बाद साठ हजार रह गई तो यह व्यापार घाटे में है। ऐसा व्यापार कब तक चलेगा।

व्यापार वह सफल है जिसमें मूल पूंजी तो बनी रहे, मुनाफा रोज-रोज बढ़ता जाये। भले ही थोड़ा-थोड़ा ही

बढ़े। मुनाफा थोड़ा-थोड़ा ही बढ़ता रहेगा तो एक दिन मुनाफे की राशि बहुत बड़ी हो जायेगी।

हमारा जीवन भी एक व्यापार है। यह व्यापार अक्सर घाटे में जाता है। बचपन में हर आदमी का जीवन सरल-निर्मल रहता है। मन में कोई गांठ, कोई कुटेव नहीं होती, कोई चिंता, कोई पीड़ा नहीं रहती। निश्चिंतता और सरलता बचपन की पहचान है, लेकिन बचपना में ज्ञान का विकास नहीं होता, अनुभव नहीं रहता है। बच्चा जब बड़ा और जवान होता है तो जवान होने पर ज्ञान और बुद्धि का विकास तो होता है लेकिन बचपना की सरलता समाप्त हो जाती है। मन की जो निर्मलता रहती है वह समाप्त हो जाती है। जवानी आते-आते मन में अनेक प्रकार के विकार आना शुरू हो जाते हैं। कुटिलता आ जाती है, असत्य आ जाता है, मन में अनेक प्रकार की वासनाएं आ जाती हैं लेकिन फिर भी जवानी में उष्मा होती है, ताकत होती है और जवान आदमी दुनिया के भोगों को कुछ भोग लेता है, दुनिया का कुछ आनंद प्राप्त कर लेता है, परंतु पूरा अनुभव नहीं रहता है। बुढ़ापा आने पर अनुभव हो जाता है। बूढ़े ने पूरी तरह से दुनिया को देख लिया है। जिसके प्रति बड़ा आकर्षण था, जवानी में जिसके प्रति बड़ी ललक थी उसको देख लिया, भोग लिया और यह पता चला कि अंत में इसमें सार कुछ भी नहीं है, अनुभव हो गया। अनुभव हो जाने पर बुढ़ापा में उदासीनता हो जानी चाहिए थी। मन निश्चिंत-अनासक्त हो जाना था। क्योंकि देख लिया कि दुनिया खट्टी है। मिलने वाला कुछ नहीं है।

अब तो कम से कम बूढ़े का मन दुनियादारी से उपराम हो जाना चाहिए। लेकिन बुढ़ापा में चिंता ज्यादा बढ़ जाती है कि बाल-बच्चों का क्या होगा? हम नहीं रहेंगे तो ये कैसे जीयेंगे-खायेंगे? हर घर के बूढ़े को यह लगता है कि हमारे नहीं रहने पर यह घर कैसे चलेगा। अनादि काल से हर घर का बूढ़ा मरता रहा है और हर घर चलता रहा है। और अनंत काल तक चलता रहेगा।

दुनिया बड़ी विचित्र है। घर का बूढ़ा बाप सोचता है कि मैं नहीं रहूंगा तो दुनिया कैसे चलेगी? मैं नहीं रहूंगा तो परिवार कैसे चलेगा? किन्तु जवान बेटा सोचता है कि कब बूढ़ा मरे तो मुझे घर का मालिक बनने को मिले।

जवानी में जिसके प्रति ललक थी, आकर्षण था, बूढ़ा ने वह सब देख, सुन और भोग लिया, किन्तु मिला कुछ नहीं। अब तो दुनियादारी से मन खट्टा हो जाना चाहिए था लेकिन उलटा हो गया। शरीर की शक्ति घटती गई और मन की तृष्णा बढ़ती गई।

कबीर साहेब ने व्यंग्य किया है—

तन के वृद्ध कहा भौ बौरे, मनुवा अजहूँ बारो हो।

(बीजक, कहरा 3)

अरे पगले! शरीर बूढ़ा हो जाने से क्या होता है? मन तो अभी भी बालक बनकर उछल रहा है। मन की जो उमंगें हैं, मन की जो आशाएं हैं वे तो ज्यों की त्यों बनी हुई हैं। शरीर बूढ़ा होने से काम नहीं बनेगा, मन को बूढ़ा बनाना होगा। बूढ़ा बनाने का अर्थ है मन को ज्ञान में लगाना, ज्ञानवृद्ध होना। केवल वयोवृद्ध हो जाने से काम नहीं होगा। काम होगा ज्ञानवृद्ध होने से।

इतना समझ लें कि जिस दुनिया के प्रति बड़ा आकर्षण होता है, जिसको देखकर लगता है कि सुख की राशि इकट्ठा कर लूंगा यह केवल एक धोखा होता है। जब तक वस्तु मिली नहीं होती है तब तक उसके प्रति आकर्षण होता है। दूर के ढोल सुहावने होते हैं कहा जाता है। दूर कहीं बाजा बज रहा हो तो बड़ा अच्छा लगता है। जब पास में जाओ तो लगता है यह तो बड़ा बेसुरा है।

ऐसे ही जो-जो चीजें नहीं मिली हैं उनके प्रति मन बहुत दौड़ता है, बड़ा आकर्षित होता है और सोचता है कि अमुक-अमुक में सुख है और जब मिल जाता है तो लगता है यह भी वैसे के वैसे ही है। इसलिए किसी कवि ने कहा है—

दुनिया जादू का खिलौना है।
मिल जाये तो मिट्टी है, न मिले तो सोना है।

मिल गई तो मिट्टी और नहीं मिला तो सोने के समान मूल्यवान। ये जो दुनिया के भोग-वैभव चमकदार

दिखाई देते हैं, जो सोने के समान आकर्षक लगते हैं इन्हीं में ही तो ज्ञान ढका हुआ है, इन्हीं में ही सत्य छिपा हुआ है। ईशावास्योपनिषद् में ऋषि ने एक सुंदर मंत्र कहा है—

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पुषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥ 5॥

सोने के समान चमकदार बर्तन से सत्य का मुख ढका हुआ है। यह सोने के समान चमकदार बर्तन है दुनिया का राग-रंग, तड़क-भड़क, चमक-दमक, जिनमें सबका मन लुभायमान होता है। सोने के समान है, किन्तु सोना है नहीं। तड़क-भड़क में मन कितना दौड़ता है। कहीं से भी राग-रंग की बात मिल जाये तो क्या पूछना?

यह राग-रंग ही तो सोने के समान चमकदार बर्तन है। इसमें ही सत्य का मुख ढका हुआ है और राग-रंग में पूरी दुनिया उलझी हुई है। किसी ने व्यंग्य किया है—

राग रंग में दुनिया रीझे, चटक-मटक में नारी।
भाव भक्ति में साधू रीझे, तीनों निपट अनारी॥

राग-रंग में पूरी दुनिया उलझी हुई है और इसी में ही सत्य का मुख ढका हुआ है। जितना मन दुनिया में मोहग्रस्त-आसक्त होता है उतना हम अपने आप से दूर होते चले जाते हैं। उतना सत्य से, परमात्मा से दूर होते चले जाते हैं। और जितना मन राग-रंग से उदासीन होता है, निर्मोह एवं अनासक्त होता है उतना ही सत्य से, अपने आप से, परमात्मा से जुड़ते चले जाते हैं।

यह दुनिया से निर्मोह हो जाना, राग-रंग का त्याग कर देना, अनासक्त हो जाना यही भजन करना है। भजन कुछ और नहीं है।

भजन है दुनिया से अनासक्त-निर्मोह हो जाना, राग रंग से, सांसारिकता से ऊपर उठकर अपने आप से जुड़ जाना। यदि ऐसा नहीं हुआ, केवल जबान से पाठ करते रहे, कीर्तन करते रहे तो वह काम नहीं आयेगा। किसी नाम का जप करना, किसी मंत्र का जप करना, किसी पुस्तक का पाठ कर लेना, कीर्तन करना, मंदिर जाकर आरती-वंदना कर लेना, पूजा-प्रार्थना कर लेना ये सब असली भजन नहीं हैं। ये सब तो बाहर-बाहर के भजन हैं। और इस भजन से जीवन में कोई बदलाव नहीं आयेगा। हां, यह सब करने से मन में थोड़ी सात्त्विक भावना आती है। मन थोड़ा निर्मल होता है, मन में थोड़ी प्रसन्नता आती है। बाहर भटकते हुए मन को रोकने के लिए ये सब खूंटे के समान हैं। इसलिए जिसका जहां जैसा मन होता है, जिसकी जैसी मान्यता है उस ढंग से वह नाम जपता है, पूजा करता है, प्रार्थना करता है, और करना चाहिए।

लेकिन असली भजन को समझना होगा कि असली भजन क्या है? राम-राम जपते रहे, गुरु-गुरु कहते रहे, रहीम-रहीम कहते रहे, पूजा करते रहे, पाठ करते रहे, मंत्र जपते रहे और यह सब करते-करते बीसों साल बीत गये लेकिन तंबाकू नहीं छूटा है। तो कौन-सा भजन हो रहा है? धोखे में जीवन बीत रहा है।

दुर्व्यसनों का त्याग यदि नहीं हुआ तो भजन मानो कुछ नहीं हो रहा है। एक सामान्य आदमी है जो कभी पूजा-पाठ नहीं करता, मंदिर-मस्जिद नहीं जाता, संत-गुरुजनों के पास नहीं जाता। यदि वह आदमी दुर्व्यसन का सेवन करता है तो बात समझ में आती है कि यह तो कुछ जानता-बूझता नहीं है, कुसंग में पड़ जाने से यह सब करता है। लेकिन यदि सत्संगी, भक्त, धार्मिक और पुजारी कहलाने वाला व्यक्ति बीड़ी पीता है, तम्बाकू खाता है तो मतलब क्या हुआ फिर, कहीं न कहीं तो फर्क होना चाहिए।

एक भक्त में और एक अभक्त में, एक सत्संगी में और एक गैर सत्संगी में, एक पुजारी में और एक गैर पुजारी में, एक धार्मिक में और एक गैर धार्मिक में अंतर कहां से देखेंगे? पहचान क्या है कि ये धार्मिक हैं और ये गैर धार्मिक हैं। ये पुजारी हैं और ये गैर पुजारी हैं। कोई पहचान तो होनी चाहिए।

चोटी रखा लिये, तिलक लगा लिये, दाढ़ी बढ़ा लिये, जनेऊ पहन लिये ये सब पहचान नहीं हैं। यह पहचान काम नहीं करेगा। पहचान है जीवन का आचरण। जीवन में बदलाव होना चाहिए। दुर्व्यसन छुटा

नहीं, झूठ बोलना कम हुआ नहीं, गुस्सा करना कम हुआ नहीं, किसी को धोखा देना कम हुआ नहीं, गाली देना छूटा नहीं तो सत्संग करने का, भजन-भक्ति करने का मतलब क्या होता है?

किसी की गलती को देखकर सहन कर लेना, गलती को क्षमा कर देना, गलती को देखकर प्यार से समझाना तब समझो कि जीवन में भजन हो रहा है। यदि सहनशीलता नहीं आयी, गम खाना नहीं सीखा गया, क्षमा करना नहीं सीखा गया, संतोष करना नहीं सीखा गया, सत्य बोलना नहीं सीखा गया, मन में सरलता-निर्मलता नहीं आयी तो भजन कहां हो रहा है। और इन सबके बिना ही जीवन बेकार चला जाता है।

इसलिए भजन है आत्मशोधन करना, अपने आपको निरंतर निरखते-परखते रहना, अपने आपको निरंतर गढ़ते-छिलते रहना।

एक बढ़ई अनगढ़ लकड़ी को गढ़-छिलकर सुंदर फर्नीचर बना देता है, एक कलाकार एक अनगढ़ पत्थर को गढ़-छिलकर सुंदर मूर्ति बना देता है। माताएं चावल-दाल साफ करके सुंदर भोजन बना देती हैं। अनगढ़ वस्तुओं में से सुंदर-सुंदर वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। हमें तो यह जीवन प्रकृति की ओर से शुरू से ही सुंदर, साफ-सुथरा मिला हुआ है लेकिन हम इस जीवन को उत्तरोत्तर बिगाड़ने का ही काम करते हैं। स्वयं सोचें, बचपना में कितनी सरलता होती है। बच्चा पैदा होता है तो मन में कोई कुटेव नहीं, कोई गांठ नहीं कोई, दुर्व्यसन नहीं। एकदम साफ-पाक, सरल-निर्मल जीवन। लोग बच्चे की तुलना भगवान से करते हैं। बाल भगवान कहा जाता है। हमेशा कहा जाता है कि वह बाल भगवान है। आपने कहीं नहीं सुना होगा जवान भगवान या बूढ़ा भगवान। बच्चे को ही बाल भगवान कहा जाता है। क्योंकि बच्चे का मन सरल, विनम्र, एवं निर्मल होता है।

जैसे बच्चे का मन सरल और निर्मल होता है वैसे ही अपने मन को सरल और निर्मल बनाना, यह भजन करना है। जीवन भर मन सरल, विनम्र, निर्मल रहे और अपने जीवन के दोषों को एक-एक करके दूर करते चले गये, यही भजन करना है।

आओ धर्म की कुछ बात कर लें

रचयिता—हेमंत हरिलाल साहू

मंदिर मस्जिद पूजा गृह है, धर्म भक्ति का है स्थल
जहां जाने मात्र से ही, पवित्र होता है अंतस्थल

निज स्वारथ वश भूलकर मानव
क्यों बना लिया राजनीतिक अखाड़ा
निर्मल पावन प्रकृति का दामन
ऐ! मानव किसने है उजाड़ा

ना हिन्दू धरम है, ना मुस्लिम धरम है,
ये तो मत मजहब है भाई
धरम सदा जो सबको जोड़े,
मत-मजहब की ही लड़ाई

भूख लगे तो भोजन कर ले, जल से तृषा बुझाई
नींद लगे तो खाट पकड़ ले, ये तन का धरम है भाई

क्षमा शील संतोष धरम है, सत्य अहिंसा सदाचार
जीवन पथ विश्वास धरम है, बिसरे कभी न शिष्टाचार

सच्चा धर्म है मानवता, एक दूजे का सम्मान करे
जीओ और जाने दो, यह महामंत्र गुणगान करे

मेरे मन वाणी कर्मों से, कभी ना किसी को हो संताप
मृदुवाणी सुन्दर बरताव, हर लेता जीवन के सारे ताप

धर्म पथ पर रहे तत्पर तो, कभी न होगी ग्लानी
खोकर मन वाणी कर्मों का संयम, पछताते हैं अभिमानी

मानव जीवन प्रकृति का, इक अनुपम उपहार है
जैसी करनी वैसी भरनी, धर्म ग्रंथों का यही सार है

मानव जनम अमोल है साथी,
आओ धर्म की कुछ बात कर लें
मानवता का दामन थामकर,
गैरों की पीड़ा हम हर लें

अपने आपको परिमार्जित करना, जीवन को गढ़ना-संवारना, आत्मज्ञान प्राप्त करना और आत्मज्ञान प्राप्त करके आत्मशोधन करना यह वास्तविक भजन है और जब तक यह भजन नहीं होगा तब तक कुछ भी बन जायें, कुछ भी प्राप्त कर लें जीवन में परमशांति-परमानंद का अनुभव नहीं किया जा सकता है।

—धर्मेन्द्र दास

सुख के रैपर में दुःखद 'राम खुदैया'

लेखक—श्री अखिलेश मिश्र

मानव को जीवन में सुख-शांति, यश, प्रगति, स्वतंत्रता और परस्पर विश्वास से अधिक और कुछ नहीं चाहिए। ये ही सब साध्य हैं। धन, सम्पदा, रोजगार, राज्य, परिवार आदि साधन हो सकते हैं, जिनकी सफलता इन साध्यों को साकार करने तक ही है। सब साध्य एकमात्र मानव धर्म, मानवता तथा मानवीय संस्कृति की परिधि में सहज, सर्वत्र सुलभ माने जाते हैं। व्यास उर्द्धबाहु होकर कहते हैं 'धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थम् न सेव्यते।' इस सन्दर्भ में मानवता ही वह एक मात्र धर्म है जो उक्त भाष्य को संतुष्ट करता है। वही ऐसा धर्म है जिसकी रक्षा की जाये तो वह धर्म मनुष्य की रक्षा कर लेगा—'धर्मो रक्षति रक्षितः।' यह धर्म न रहा तो मनुष्य ही नहीं रहेगा। मानव धर्म में ही यह भी शामिल है कि जो व्यवहार अपने प्रति पसन्द न हो वह दूसरे के प्रति भी न करो। वह धर्म दूसरे की स्वतंत्रता छीनने की स्वतंत्रता किसी को नहीं देता। एक के अधिकार दूसरे के लिए कर्तव्य बन जाते हैं।

शान्ति, यश, प्रगति, स्वतंत्रता आदि को कुछ विद्वान सुख में शामिल करके उसे मोक्ष तक पहुंचा देते हैं, लेकिन तब स्त्रियां न जाने क्यों उसमें भागीदार नहीं रह जातीं। मीमांसा वहां अभीष्ट नहीं है। कुछ मीमांसक उक्त साध्यों को 'अर्थ' में और कुछ काम में शामिल कर देते हैं। तत्त्व की बात यह है कि मानव मात्र का धर्म मानवता है जिसे गंवा देने के बाद उक्त साध्यों में से किसी एक की यदल्प प्राप्ति भी असम्भव है। इसका प्रमाण पग-पग पर मिल रहा है।

वित्त शास्त्र के नियम यों तो वस्तुओं के उपयोग और विनिमय मूल्यों के आधार पर मान्य होते हैं लेकिन कुछ विद्वानों ने सुख-दुःख के सन्दर्भ में भी उत्पादन-वितरण के वित्त शास्त्रीय सिद्धान्त लागू कर दिये हैं। किसान अन्न उपजाता है तो केवल अपने लिए नहीं अपितु पूरे समुदाय के लिए उपजाता है। यदि जमीन परती छोड़ देता है तो समुदाय के लिए ही नहीं अपने लिए भी भूखों मरने का इन्तजाम करता है। यही हाल सुख और दुख का है। स्वयं सुखी होना चाहो तो दूसरों को सुख दो। शॉ ने लिखा है कि समष्टि के लिए सुख न उपजाने वाले को स्वयं भी सुख भोगने का अधिकार नहीं। यदि कोई अकेले सुख भोगने का प्रबन्ध कर लेता है तो वह चोर है, डकैत है, अपराधी है, शोषक है, अन्यायी है, धर्मद्रोही है।

इसी स्थल पर सन्त लक्षण भी विचारणीय हो जाते हैं। सन्त अपने सुख से सुखी नहीं होते।

सजन सुकृत सिन्धु सम होई, देख पूर, विधु बाढ़ै जोई।

और भी—

निज परिताप द्रवै अवलेहा। पर दुःख द्रवै सन्तगुण एहा॥

या

जो सहि दुःख पर छिद्र दुरावा।

कौन कह सकता है कि ये सन्त 'लक्षण' मानव धर्म से भिन्न कुछ और है। 'पत्थर की मार सहकर फल देने वाले पेड़ से सन्त की तुलना अनेक भाषाओं में की गयी है। यह मानव धर्म की परम सिद्धि है।' राष्ट्र, क्षेत्र, भाषा की सीमाओं में यह धर्म विभाजित नहीं होता। एक वाक्य में कहा जाये तो सुख और दुख की उत्पादन क्षमता परिस्थिति नहीं केवल कुशलता पर निर्भर है। सुनिये तथागत की वाणी—

'सब्ब पापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा।

सचित परियोदपनं एतम् बुद्धानं सासनम॥'

फांसी पर चढ़ने वाले क्रान्तिकारी, तवे पर भुने जानेवाले, हाथी से कुचले जानेवाले सूफी, गाना गाते हुए शहीद हुए हैं। उनके मुखमण्डल का तेज बढ़ गया था, वजन बढ़ गया। दूसरी तरफ घर पर दस कारें खड़ी हैं।

किसी अभाव या घाटे की खबर नहीं है। खबर यह मिली है कि पड़ोसी के घर एक कार अधिक आ गयी है। खबर पाकर दिल का दौरा पड़ गया। इससे क्या सिद्ध होता है। मैंने एक धन्धा किया। तख्मीना था कि पांच हजार रुपये का लाभ होगा। मुझे लाभ छह हजार हुआ। तब तो मुझे सुखी होना चाहिए, लेकिन मैं दुखी हूं। मुझे पता चला है कि किसी अन्य को वैसे ही धन्धे में आठ हजार का लाभ हो गया। क्या ख्याल है? एक तरफ हक-परस्ती का सुख है, दूसरी तरफ डाह का दुख है। दोनों परिस्थितिजन्य नहीं अपने दिमाग की उपज हैं। इसीलिए कहा जाता है कि सुख-दुख अर्जित करने के मामले में मनुष्य विधि-विधान के अधीन नहीं बल्कि स्वतंत्र है। यही मनुष्य की वास्तविक स्वतंत्रता है, पूर्ण आत्मनिर्भरता है। सांख्य ने इसी तत्त्व की विशद मीमांसा की है। एक ही परिस्थिति में निजी क्षमता के अनुसार कोई सुखी, कोई दुखी होता है। बर्नाड शॉ कहते हैं कि 'वही परिस्थिति विचारक को सुखी और भावुक को दुखी बनाती है।' एक परिस्थिति के दो परस्पर विपरीत परिणामों के सिलसिले में कुछ शब्दों को भी समझना आवश्यक है। कष्ट, पीड़ा और दुख समानार्थक नहीं हो सकते हैं। कष्ट और पीड़ा परिस्थितिजन्य हैं लेकिन कष्ट और पीड़ा हो तो भी सम्भव है कि दुख न हो। दुख विचार पर निर्भर है। अनेक कष्ट झेलने में सुख मिलता है। इसी तरह सम्पदा, सफलता, सुविधा, सुख, आनन्द आदि शब्द भी समानार्थक नहीं हैं। स्वतंत्र सुख और दुख है, पीड़ा-सुविधा अन्य सब नहीं। कपिल कहते हैं कि अगर किसी को सुखी रहने की विधि नहीं आती तो वह यज्ञ करके स्वर्ग जाकर भी सुखी नहीं होगा। दूसरों के अधिक सुख को देखकर ईर्ष्या की आग में जलेगा। मनोविज्ञान के शोध भी यही बताते हैं। दुख देता है, अभाव नहीं, अभाव का भाव। अभाव का भाव न होना ही वास्तविक सम्पन्नता है। सम्पन्नता नहीं सम्पन्नता का भाव सुखदायी है।

एक कहानी याद आ रही है। एक बाबा जी चेलों के पास बैठे थे। धर्म चर्चा हो रही थी। सभी लंगोटी में मस्त थे। कड़ाके की सर्दी लंगोटी में काट चुके थे। कोई श्रद्धालु अशर्फियों भरा थाल अर्पित करने लाया। फकीर ने लेने से इनकार किया और कहा कि मैं क्या करूंगा, जाकर किसी गरीब को दे दो। भक्त ने पूछा—आपसे ज्यादा गरीब कहां मिलेगा। फकीर ने कहा—जाओ खोजो, मिल जायेगा। भक्त थाल लेकर चला गया और पास ही एक पेड़ के नीचे बैठकर सोचने लगा। तभी उधर से एक राजा की सवारी निकली। भक्त को न जाने क्या सूझा। वह थाल लेकर राजा को अर्पित करने पहुंच गया। राजा ने थाल ले लिया। फकीर उठकर नाचने लगा। फकीर ने कहा—देखा, तुमको मुझसे गरीब मिल गया कि नहीं। सम्पन्नता और दीनता सापेक्ष भाव हैं। एक दृष्टिकोण यह भी है कि प्रेम और घृणा दोनों एक ही भाव के दो रूप हैं, एक ही सिक्के के दो पटल हैं। ये दोनों भाव उपेक्षा के विपरीत भाव हैं। इसी प्रकार सन्त, असन्त, लोभ, भय, राग, द्वेष, मैत्री, शत्रुता आदि सभी गुण एक ही सिक्के के दो पटल हैं। इनकी विपरीतता परिस्थितिजन्य नहीं द्रष्टा या मौके की स्थिति से सापेक्ष होती है। स्पष्टवादी व्यक्ति ही बेमुरौव्वत भी होगा। इनमें से एक शब्द प्रशंसा है दूसरा निन्दा। इसे क्या समझा जाये। खगोल के छात्रों को ज्ञात होगा कि कोई तारा एक जगह से धुंधला दिखे तो दूरबीन का स्थान बदल कर उसे साफ देखने का प्रयास किया जाता है। तारा वही वैसे ही रहता है। उसमें परिवर्तन करना मनुष्य के हाथ में नहीं, लेकिन दूरबीन का स्थानान्तरण अपने हाथ में है। उतने से ही धुंधला तारा चमकीला हो जायेगा। अधिकांशतः भले-बुरे का निर्णय इसी तरह सापेक्ष होता है। तुलसी ने लिखा है—

'सम प्रकाश तम पक्ष दोउ नाम भेद विधि की कीन्हि।
विधु पोषक शोषक समुझ जग जस अपजस दीन्हि॥'

सन्त-असन्त में इतना ही अन्तर है। दोनों पक्षों में प्रकाश-तम बराबर है, लेकिन जिसकी संगति में चन्द्रमा बढ़े वह शुक्लपक्ष। जिसकी संगति में चन्द्रमा घटे वह कृष्णपक्ष। ऐसे सिद्धान्त वाक्य हर भाषा में भरे पड़े हैं।

धर्म और संस्कृति का मानवीय एकरूपता इतने से ही सिद्ध हो जाती है।

अच्छा याद आया। कुछ समय पूर्व एक विचार गोष्ठी, एक कार्यशाला हुई थी। प्राथमिक से ऊपर से नीचे के पाठ्यक्रमों और शिक्षण उपकरणों पर विचार करके पठन दिशा देनेवाले विशेषज्ञ थे, कुछ कलमघिस्सू कारीगर थे। कुछ ऊंचे अफसर और कुछ पदासीन राजनेता भी गोष्ठी को कृतार्थ करने आ गये थे। यह तो आम बात है कि कारीगर पर विशेषज्ञ, विशेषज्ञ पर प्रशासक और प्रशासक पर सत्ताधारी राजनेता चढ़ बैठता है। तब केवल ठकुरसुहाती का अवसर रह जाता है। सो वहां भी 'अहो रूपम अहो स्वरम्' होने लगा। प्रशासक भाखते गये कि जब सब कुछ वर्षों से बदस्तूर चल रहा है, कहीं से कोई शिकायत नहीं आयी तो यह पुनर्विचार या फेरबदल का खर्चीला व्यसन क्यों पाला गया है। राजनेता कहां चुप रहते उन्होंने भी कुछ बातें कह दीं। पढ़ाई-लिखाई से उनका दूर-दूर तक ताल्लुक नहीं था। काफी देर हां, हुजूर चलती रही। आखिर एक दुर्मुख कलमघिस्सू उठ खड़ा हुआ। उसके कथन का संक्षेप यों था—

कोई शिकायत न हो, सब लोग सिर माथे ले रहे, तब भी क्या पाठ्यक्रम ज्यों का त्यों, पाठ्यपुस्तक जैसी की तैसी सदा बनी रहनी चाहिए, क्या शिक्षा अब परिस्थिति-परिवर्तन अछूती रहेगी। यों इस अन्धेर नगरी का हाल सबको मालूम है। बहुतेरे टीचर गर्वपूर्वक कहते हैं कि वे आज भी अपने छात्र जीवन के नोट्स से पढ़ाते हैं। यह मान लिया कि उनके नोट्स विश्व में सर्वश्रेष्ठ थे, वह स्वयं भी विश्व में सर्वश्रेष्ठ छात्र थे। उसके नोट्स दुनिया में सबसे बढ़िया थे, लेकिन क्या वह विषय इतने वर्षों में जहां का तहां रह गया है। ऐसे कूढ़-मगज फटीचर को टीचर कहना विद्या का अपमान है। शास्त्र सुचिन्तित हो तो भी पुनि-पुनि देखने का विधान है। बुद्ध ने स्वयं अपनी वाणी परख कर मानने का आदेश दिया था। कुरान को इल्म और अक्ल की रोशनी माना जाना चाहिए। ये सब आदेश संशोधन के समर्थक हैं और विद्या क्षेत्र में मेरी-तेरी, अपनी-गैर की दीवारें स्वयं अपने लिए घातक होंगी। पुराणपंथी समझ लें कि अगर जनेऊ और चोटी स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हैं तो उन्हें पूरा विश्व अपनायेगा। किसी को भी उनसे वंचित नहीं किया जा सकता। गणित, इतिहास, जीवनी, दर्शन और विज्ञान में अपने-पराये का भेद मानना बुद्धि-दारिद्र्य है। एक के लिए ग्राह्य और दूसरे के लिए अग्राह्य चिन्तन ही आवेश, उत्तेजना, विरोध, प्रतिद्वंद्विता, ईर्ष्या, अपमानता, आतंक और भय को जन्म देता है। उन्हें न धर्म माना जा सकता है न संस्कृति में वे दाखिल हो सकते हैं। ऐसी बातें विश्व में धर्मसंकट उत्पन्न करती हैं। यही चिन्तन दुख का उत्पादन और वितरण करता है।

मानवता धर्म में और मानव संस्कृति में जो कुछ भी है उस पर सबका निर्बाध अधिकार है। इसी से समता और निर्भयत्व के सूत्र निकलते हैं। सन्त का एक लक्षण यह भी है 'निजगुन श्रवण सुनत सकुचाहिं।' सन्त पर-निन्दा भी नहीं करता। उसे अपनी करनी पर अहंकार नहीं होता। सत्ता और महन्ती के गलियारों में ऐसे सन्त की गुजर कहां है। ठकुरसुहाती की दरगुजर रावण की सोने की लंका में है जहां 'राखेरि कोऊ न स्वतंत्र' और 'स्तुति करैहि सुनाई।' या पर निन्दा का दौर है। मानव धर्म और सन्त गुण या मानवीय संस्कृति पद-पद पर समानार्थक सिद्ध हो रहे हैं। सूफियों ने भी प्रेममद के मतवालों की बिरादरी से ठकुरसुहाती पसन्द करनेवाले अहंकारी असन्त को निकाल दिया है।

जो जरा सी पी के बहक उठे, उसे मयकदे से निकाल दो।
यहाँ कमनजर की गुजर नहीं, यहाँ अहले जर्फ का काम है।

तब यह धर्मपरिवर्तन का हंगामा क्या है। मनुष्य का धर्म मानवता है। उसे न त्यागा जा सकता है न बदला जा सकता है न नये सिरे से ग्रहण किया जा सकता है। जब तक मनुष्य है तब तक धर्म है। धर्म-त्याग या धर्मपरिवर्तन 'शब्द व्यामोह' है। मानवता धर्म में उपासना पद्धति का कोई महत्त्व नहीं है। नास्तिक ऋषि

भी मानव-धर्म के अनुयायी थे। आस्तिक राक्षस मानव धर्म के शत्रु थे। सब आस्तिक अनिवार्यतः धार्मिक नहीं होते। ऐसे भी हैं जो कहें हैं—जो चलौं, परिक्रमा सोई, मैं जो करौं सौ पूजा।' उन्हें पतित पावन की दरकार नहीं। जो कर्म फल भोगना चाहे, क्षमा न चाहे, वे भी आस्तिक हैं। उपासना पद्धति जब धर्म है ही नहीं तब उसे अपनाने, त्यागने, बदलने से धर्म त्यागने-बदलने का सवाल कहां उठता है। सनातनी हिन्दू यही मानते हैं कि धर्म जन्मना मिलता है और जन्म भगवत कृपा से मिलता है। तब यह शुद्धि, तबलीग या कनवर्सन क्या है। काहे का हंगामा है। धर्म मानवता है, जो बदल नहीं सकती। कर्म, स्वभाव, चरित्र एक दिन में बदलेंगे नहीं। बदलेगा केवल नाम या उपासना पद्धति। आस्था बदलने का बहाना होगा। आस्था विकसित होती है। एक क्षण में न आती है न जाती है। ऐसे में वह स्थिति आती है—

कहत कबीर तत्त्व न समझे, परिगै राम खुदैया।

कहां सांख्य का मानव दर्शन कहां यह राम-खुदैया। महन्ती और सत्ता स्वार्थी राजनीति में इसी राम खुदैया का झण्डा ऊंचा होता है। यह झण्डा सुख नहीं दुख उपजाता और बांटता है।

राम खुदैया बड़ी विलक्षण चीज है। बन्दगी बन्दों को एक बनाती है। सन्तों और सूफियों ने तो आराध्य-आराधक का भेद भी मिटा दिया है।

'आइना देखा तो हैरत हो गयी,
अपनी सूरत उनकी सूरत हो गयी।
मैंने तो समझा कयामत हो गयी,
व तो फिर साहब सलामत हो गयी।'

यही गीता तत्त्व का संक्षेप है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिट जाने पर माया मिट जाती है। लेकिन राम-खुदैया में क्या होता है। भगवान के प्यारे, पवित्र बनना चाहो तो हमारे उपासना मार्ग पर, वह भी हमारे मठ की शरण में आओ। सबके दलाल हैं, प्रचारक हैं, प्रलोभन हैं। झांसापट्टी है, चढ़ा-ऊपरी है। कीमती प्रकाशन है, मनभावन प्रोग्राम, स्वादिष्ट प्रसाद। अपना-अपना तख्त डालें कचहरी में वकील बैठते हैं। तीर्थ में पण्डे बैठते हैं। पर-निन्दा की बही खोलते, उल्लू साधते और ग्राहक फांसते हैं। सब भक्त हैं, सब जनहितकारी हैं। उनके यहां राम और खुदा एक नहीं है—राम और खुदा अलग-अलग ताले में बन्द हैं। ये अनुष्ठान बड़े शहरों में होंगे जहां चढ़ावा-पुजापा हो। अरण्यवासी जनजातियों के पास कोई दैवी सन्देश लेकर नहीं जाता। सुख का रैपर चढ़ाकर दुख बेचने वाले ये व्यापारी धर्म और संस्कृति का नाम बदनाम करते हैं।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)

दिल में खुदा बसाये हैं

रचयिता—जितेन्द्र दास

दुनिया में आकर कभी
क्या खुद को समझ पाये हैं।
आज भी निंदक बनकर,
खुद को भरमाये हैं ॥ 1 ॥

दूसरों की कमजोरी में,
कैसे नाज दिखाये हैं।
किन्तु अपनी कमजोरी,
कभी नजर नहीं आये हैं ॥ 2 ॥

आदत बुरी जो हैं हमारी,
हमें दखल करते आये हैं।
अपनी ही कमजोरियों से
खुद को खुद ही गिराये हैं ॥ 3 ॥

क्या दूसरों की अपेक्षा,
अपने को सुधार पाये हैं।
यही सीखे हम भी,
प्रेम प्रतिज्ञा क्या निभाये हैं ॥ 4 ॥

बोध विचार करें जग में
सबके दिल में खुदा बसाये हैं।
जितेन्द्र प्रेम के तराजू में,
समता से ही ठहराये हैं ॥ 5 ॥

प्रवचन

सावधानी ही साधना है

(पूज्यवर गुरुदेव श्री अभिलाष साहेब जी द्वारा कबीर आश्रम, प्रीतमनगर, इलाहाबाद में दिया गया प्रवचन। प्रस्तुति—श्री रामकेश्वर जी)

(गतांक से आगे)

हमारी चित्तवृत्ति हमें निरन्तर नचाती है। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है और चित्तवृत्ति का निरोध होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। जैसे हम यहां छज्जे पर खड़े होकर सड़क में देखें तो गाड़ी जाती है, आदमी जाते हैं, पशु जाते हैं और भी बहुत सारी चीजें लेकर लोग जाते हैं। मानो एक धारा सड़क पर बहती है और उसको हम देखने लग जाते हैं तो हमें अपने आप का कुछ ख्याल ही नहीं रह जाता है। लेकिन जब हमने उस धारा को देखना बन्द कर दिया और अपनी तरफ ध्यान दिया, अपने को देखने लगे तो हम वह धारा भूल जाते हैं और तब हमें अपने आप का ख्याल होता है।

इसीप्रकार जब हम चित्तवृत्ति में बहते हैं तो हम आत्मदर्शन नहीं कर पाते हैं और चित्तवृत्ति से जब लौटते हैं तब आत्मदर्शन होता है। नदी-तालाब के पास आप खड़े होइये तो तट के बाद थल भी दिखाई दे जाता है लेकिन समुद्र के तट पर जाकर खड़े होइये और जल की तरफ देखिये तो जल ही जल दिखाई देता है। दूर तक आप अपनी दृष्टि दौड़ाइये तो लगता है कि आकाश और जल आपस में मिल गये हैं और केवल जल ही जल है। लेकिन उधर से पीठ घुमाकर थल की तरफ देखने लगिये तो केवल थल ही थल है। चित्तवृत्ति में जब हम रहते हैं तो केवल संसार है। चित्तवृत्ति जब शांत हो जाती है तब जो है उसका नाम आप चाहे राम, ब्रह्म, रहीम, अल्ला, ईश्वर, खुदा, गॉड जो रखें तथ्य एक है और नाम जितना है सब फर्जी है लेकिन फर्जी नाम लिए बिना चलता भी नहीं है। कोई न कोई नाम तो लेना पड़ता है। जैसे मान लीजिए मेरा ही नाम है "अभिलाष" और यह फर्जी ही तो है। पुकारने के लिए नाम रख दिया गया है। वैसे ही उस परम सत्ता के लिए जो भी नाम रखा है सब फर्जी ही है लेकिन उसकी उपयोगिता होती है। आप क्या नाम रखते हैं वह आप जानें लेकिन करना केवल इतना ही है चित्तवृत्ति से लौटना।

वृत्तियां जो हमें भटकाती हैं उन वृत्तियों को शांत करना है। रोज सबको साधना करना चाहिए। सुबह-शाम, मध्याह्न जब भी समय मिले, आप बैठें और अपने मन को देखें और उसको शांत करें। काम केवल इतना ही है अपने मन को शांत करना। केवल चित्तवृत्तियों को शांत करना है। अपने मन को आप जहां लगाने की इच्छा हो लगायें। किसी पवित्र धारणा में जो आपको प्रिय हो अपने मन को लगायें। उसमें झगड़ा करने की जरूरत नहीं है। जिसको आप अपना ईष्ट मानते हों, जो आपको अच्छा लगता हो उसमें आप अपने मन को लगाकर मन का निरोध करें।

आपका मन जब सूक्ष्म हो जाये, ज्यादा मंज जाये, ज्यादा सुधर जाये तो सारे आलम्बनों को छोड़कर शांत हों और इस प्रकार साधना करते-करते एक अवस्था ऐसी भी आनी चाहिए कि जब आप चिंताशून्य हो जायें। तब चित्त ही नहीं रह जाता है। यह अवस्था आनी चाहिए कि कुछ न सोचिये और जिस क्षण आप कुछ न सोचते हों आप देखेंगे कि वह क्षण बड़ा अद्भुत है। दो मिनट का ऐसा क्षण अगर मिल जाये तो आपको एक अद्भुत अनुभव होगा और अगर यह रोज आप करते रहें तो उसको बिना किये आप रह नहीं पायेंगे।

तम्बाकू कितनी खराब चीज है लेकिन जब खाने की आदत होती है तब तम्बाकू खाये बिना लोग रह नहीं पाते हैं जबकि यह समाधि सर्वोच्च अमृत है, मन की शांति है। इसलिए जब इसकी आदत लग जायेगी तब इसके बिना आप कैसे रह पायेंगे।

हमारा ऐसा क्षण आना चाहिए कि चित्त बिलकुल न हो, चित्त शून्य हो जाये, एकदम शांत हो जाये। अभ्यास करने से यह होता है इसमें दो राय नहीं है और दीर्घ अभ्यासी पुरुष इसमें घंटों-घंटों विश्राम करते हैं। वे घंटों बैठे रहेंगे और उनका चित्त शांत रहेगा। बीच-बीच में कभी थोड़ा इधर-उधर हो गया तो हो गया लेकिन गंदा तो सोचता ही नहीं है। थोड़े इधर-उधर के विचार जरूर आ जायेंगे लेकिन फिर तुरन्त शांत हो जायेगा और घंटों बैठे रहकर विश्राम पा सकते हैं और आप भी उसमें हो सकते हैं। इसलिए अंतिम स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि चित्त कुछ न सोचता हो।

जाग्रत अवस्था में कुछ न सोचना यह बहुत बड़ी बात है। इसको ज्ञान सुषुप्ति कहना चाहिए। एक अवस्थाजनित सुषुप्ति है और एक ज्ञानसुषुप्ति है। अवस्थाजनित सुषुप्ति शारीरिक है। हर अज्ञानी आदमी जब सो जाता है तब निश्चिंत हो जाता है। यहां अज्ञानी मैं मोही को कहता हूं। मैं कई बार आपसे यह बात कहता हूं कि लौकिक भाषा में अज्ञानी वह है जो किसी चीज को न जाने और ज्ञानी वह है जो किसी चीज को जाने। इसप्रकार सभी लोग ज्ञानी हैं और सभी लोग अज्ञानी हैं क्योंकि हर आदमी कुछ न कुछ जानता है और हर आदमी कुछ न कुछ को नहीं जानता है। इसलिए सभी आदमी ज्ञानी हैं और सभी आदमी अज्ञानी हैं लेकिन आध्यात्मिक भाषा में ज्ञानी का अर्थ है मोहरहित होना। जो मोहरहित है वही ज्ञानी है और जो मोहयुक्त है वही अज्ञानी है।

मोही आदमी भी सोता है और अगर वह गहरी नींद में है तब उसको मानो निर्वाण रहता है, परमशांति रहती है लेकिन जब जागता है तब फिर वही मानसिक रोग उसको आ जाता है। जागते-जागते जब कोई मानसिक रोग न हो, जागते-जागते जब चित्त शांत हो तब यह समर्थ आध्यात्मिक शक्ति है और यह शक्ति आपके हाथ में है। यह केवल अभ्यास पर निर्भर है।

अभ्यास के साथ वैराग्य भी चाहिए लेकिन वैराग्य का अर्थ यह नहीं है कि घर-द्वार को छोड़ दिया जाये। वैराग्य का अर्थ है अनासक्ति। हमारे वेष में अर्थात साधु वेष में होकर भी कोई रागयुक्त हो सकता है। इसलिए अनासक्ति ही वैराग्य है। अनासक्ति के बिना कोई साधना में ठहर नहीं सकता। जो साधक प्रायः शिकायत करते रहते हैं कि मन स्ववश नहीं होता उसका कारण यही है कि उनके मन में आसक्ति बहुत है। आसक्ति के कारण से उनका मन चंचल होता है। इसलिए मन में अनासक्ति और विवेक होना चाहिए।

हमारे मन में वह अवस्था आनी चाहिए जहां चित्त शून्य हो जाये और सभी साधक इसको मानते हैं। हमारे भारत वर्ष के आध्यात्मिक ग्रंथों में सबसे पुराने ग्रंथ उपनिषद् हैं। वेद तो सबके मूल हैं ही लेकिन वेदों में अध्यात्म का उतना वर्णन नहीं है जितना कर्मकाण्ड का है लेकिन वेदों में अध्यात्म के जो बिन्दु हैं वे हीरे-मोती के समान बड़े मूल्यवान और बहुत मार्मिक हैं। उपनिषदों में अध्यात्म भरा है जो प्राचीन ग्रंथ हैं। छांदोग्योपनिषद् में सनत्कुमार नारद से कहते हैं–"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्" अर्थात अल्प में सुख नहीं है किंतु भूमा में सुख है। भूमा का मतलब है जो नित्य हो और अल्प यानी जो कुछ क्षण रहे और फिर आगे न रहे।

जवानी अल्प है। पद अल्प है, संयोग अल्प है सबकुछ अल्प है। आप पचीस वर्ष के बाद कहीं जायें तो देखेंगे कि वहां घोर परिवर्तन हो गया होगा। पचास वर्ष के बाद जायें तो किसी पुराने का मिलना दुर्लभ है जबकि महाकाल के बीच में पचीस और पचास वर्ष का समय कुछ नहीं होता। हजारों वर्ष भी सेकण्ड के समान हैं। ऋषि कहते हैं कि भूमा में ही सुख है। अनन्त में सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा की परिभाषा ऋषि ने दी और कहा-"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यत्शृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ।" अर्थात जब दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं जानता, दूसरे को नहीं सुनता तब भूमा है। नहीं देखना, नहीं सुनना, नहीं जानना इन तीनों का लाक्षणिक अर्थ हुआ कि जब दूसरे से चित्त बिलकुल निवृत्त हो जाता है तब वह भूमा है।

बात यहां यह आती है कि दूसरे से चित्त बिलकुल निवृत्त कब होगा? इसका उत्तर है जब मन शांत होगा। जबतक मन है तबतक दूसरा है। मन जब शून्य हुआ बस दूसरा खत्म। यही भूमा है। रूमी साहेब ने कहा है-

चश्म बंदौ गौश बंदौ लब बि बन्द।
गर्र न बीनी सर्रेहक बरमन बखन्द॥

आंखें बन्द कर लो। कान बन्द कर लो और ओंठों को भी बन्द कर लो। इतने पर भी यदि सत्य के दर्शन न हों तो मेरा मजाक उड़ाना। यह रूमी साहेब ने कितनी बढ़िया बात कह दी है। इसका भी लाक्षणिक अर्थ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आंख और कान बन्द कर लेना है। अर्थ है कि सारी इन्द्रियां और मन स्ववश हो जायें बस सत्य के दर्शन हैं। जहां मन और इन्द्रियां शांत हुए वहां सत्य के दर्शन हो जायेगा।

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु परमां गतिम्॥

यह कठोपनिषद् का वचन है। यमराज ने नचिकेता को उपदेश देते हुए कहा है—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि शांत हो जाते हैं—"न विचेष्टति" क्रिया नहीं करते हैं तब उसको कहते हैं परम गति। कबीर साहेब कहते हैं—

समुझि बूझि जड़ होय रहे, बल तजि निर्बल होय।
कहहिं कबीर ता संत का, पला न पकरै कोय॥

जो समझ-बूझ कर जड़ हो जाये और बल को छोड़कर निर्बल हो जाये। ऐसे संत का कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। जैसे कछुआ ज्योंही कुछ आहट पाता है त्योंही झट से अपने सिर और पैरों को अपने शरीर के अन्दर समेट लेता है। फिर उसको ऊपर से पीटते रहो कोई फरक नहीं पड़ता। वह अपने खोल में चुपचाप पड़ा रहता है। वैसे जो अपने आप को समेट लेता है वह शांति पाता है। माण्डूक्य उपनिषद् का यह वचन कितना मार्मिक है—"नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमअग्राह्यम-लक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपंचोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः"। उस समय "अंतः प्रज्ञम्" वह नहीं होता है। "बहिष्प्रज्ञम्" भी वह नहीं होता है। "उभयतःप्रज्ञम्" भी वह नहीं होता है। "अप्रज्ञम्" भी नहीं होता है। "प्रज्ञम्" भी नहीं होता है। वह "अव्यवहार्यम्" होता है, "अग्राह्यम्" होता है। "अलक्षणम्" होता है। "अचिंत्यम्" होता है। उसका उपदेश नहीं हो सकता। तब क्या होता है? केवल "एकात्मप्रत्ययसारम्" केवल एक आत्म अस्तित्वमात्र होता है।

इस मंत्र की जान यही है—"एकात्मप्रत्ययसारम्" एक आत्मप्रत्यय ही सार है। आत्मप्रत्यय अर्थात आत्मअस्तित्व मात्र होता है। फिर उसकी और क्या व्याख्या होती है। "प्रपंचोपशमम्" सारे प्रपंचों का वहां उपशमन होता है। मन नहीं है तो प्रपंच भी नहीं है। "शांतम् शिवम्" शांत है, शिव कल्याणस्वरूप है। "अद्वैतम्" अकेला है। "चतुर्थंमन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः" यह आत्मा को समझने के लिए चतुर्थ जगह है।

जागृत अवस्था पहले बतायी गयी। जाग्रत अवस्था में जीव "बहिष्प्रज्ञं" होता है। स्वप्न अवस्था में "अंतस्प्रज्ञं" होता है और सुषुप्ति में प्रज्ञानघन होता है लेकिन यह चतुर्थ अवस्था है। जो तीनों अवस्था से परे है वह ज्ञान की अवस्था है, तुर्यगा की अवस्था है, समाधि की अवस्था है और यह जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति नहीं है किंतु प्रपंचों का शमन है। चित्त ही नहीं है तो प्रपंच भी नहीं है।

आप दुखी हैं तो इसका मतलब है कि चित्त है। आप सुखी हैं तो इसका मतलब है कि चित्त है। हर्ष है तो चित्त है। शोक है तो चित्त है। हम बैठे हैं लेकिन ख्याल नहीं है लेकिन इतने में ख्याल आ गया कि बड़ा बढ़िया कमरा है। चारों तरफ से बन्द है, बड़ा है और प्रकाश भी इसमें है तो गदगद हो गया। कैसे गदगद हो गया क्योंकि चित्त है इसलिए। अभी इसके पहले कुछ ख्याल नहीं था तो कुछ गदगद नहीं था लेकिन ख्याल हो गया तो गदगद हो गया। इतने में यहीं मेरा शिष्य आया

और वह मुझसे बातें कर लिया और लड़ गया जिससे मेरा मन खराब हो गया। अब यह कमरा अच्छा नहीं रहा। यह क्या है। यही चित्त है। वह लड़ गया होगा और कह दिया होगा। हमें उसको नहीं लेना चाहिए लेकिन हम भी प्रभावित हो गये।

चित्त ही दुख है और चित्त ही सुख है। चित्त है तो काम है, चित्त है तो क्रोध है। चित्त केवल वर्तमान करता है। इस चित्त को जो समझ लेता है, मन को जो समझ लेता है उसके लिए मानो संसार होते हुए भी नहीं है। उलझन केवल मन है, फंसानेवाला केवल मन है। हमें केवल हमारे मन ने उलझाया है और मन को हमने उलझाया है। साहेब ने कहा है—

ई माया है चूहड़ी, औ चूहड़ों की जोय।
बाप पूत अरुझाय के, संग न काहू के होय॥

साहेब कहते हैं कि यह "चूहड़ों की जोय" चूहड़ी है और यह चूहड़ों की स्त्री है। यह बाप और पूत को उलझाकर किसी के साथ नहीं होती है। बाप-पूत का अर्थ है जीव और मन। जीव ने मन को उलझा दिया है और मन ने जीव को उलझा दिया है और उसी में बस घसीट रहे हैं। हम मन को उलझाते हैं और मन हमें उलझाता है। हम कहीं लड़ गये मन को उलझा लिये। अब घर आये तब भी खाट पर भी चैन नहीं है। रातभर सो ही नहीं पाये। अब मन हमें बुरी तरह रगड़ रहा है।

कितने लोग कहते हैं कि मैं कहीं सिर नहीं झुकाता हूं लेकिन मन के सामने तो हरदम सिर झुकाते हैं। पता नहीं कितनी गंदी-गंदी बातें सोचते रहते हैं और मन के गुलाम बने हुए हैं। किसी महापुरुष के सामने सिर नहीं झुका पाते हैं लेकिन गंदे मन के सामने हरदम सिज्दा पड़ते हैं। यह मिथ्या अहंकार है। मन केवल वर्तमान करता है। इसलिए मन को ही ठीक करना है। जो विवेकवान साधक है, जो समाधि में भी जाता है और समाधि के बाद व्यवहार में भी विवेक से रमता है वह समझता है कि चित्त ही खास है। हर्ष-शोक, हानि-लाभ, सुख-दुख केवल चित्त है। जिसने चित्त को जीत लिया, मन को जीत लिया, वह सदैव आनन्दकन्द है। इसलिए साहेब की यह साखी जो मैंने शुरू में कही थी कि "मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत" यह बहुत महत्त्वपूर्ण साखी है। इसका अर्थ मैंने बताया कि मन समुद्र है और इच्छाएं तरंगे हैं। बहुत-से असावधान लोग डूब गये हैं। "कहहिं कबीर ते बांचिहैं, जाके हृदय विवेक" वही इससे बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा।

विवेक से ही हम दुखसागर को पार पा सकते हैं। राग-द्वेष, प्रपंच और दुनियाभर का जितना भी उपद्रव हमें मिलता है उससे मुक्त होने का साधन विवेक ही है। जिसके पास जबर्दस्त विवेक है, वह प्रभावित नहीं होता है। विवेक जिसके नहीं है, वह रात-दिन रोता है। हम लोगों को साधु संगति और सत्शास्त्रों का मनन करना चाहिए। इन सबमें रोड़े आते हैं लेकिन उन रोड़ों को दूर करना हमारा कर्तव्य है।

योगदर्शन में बताया गया है कि कितने-कितने विघ्न योगाभ्यास में आते हैं और उसमें कौन-कौन सहायक हैं। हर जगह विघ्न हैं। परिवार का काम करो तो उसमें विघ्न बहुत हैं। खेती-बाड़ी करो तो उसमें भी विघ्न हैं। व्यापार करो तो उसमें बहुत विघ्न हैं। नौकरी करो तो उसमें विघ्न है। एक अच्छे अफसर एक बार बहुत उत्तेजित हो गये और कहे—"महाराज, मैं अब इस्तीफा दे दूंगा। यह गुलामी अब नहीं सह पाऊंगा, बड़े अफसरों की गुलामी अब मैं नहीं सह पाऊंगा।" यद्यपि वे भी एक बड़े अफसर थे लेकिन बड़े से भी बड़े होते हैं।

मैंने बचपन में एक कहानी पुराण में पढ़ी थी। कहा जाता है कि ब्रह्मा जी के चार मुख थे इसलिए उनको बड़ा अहंकार हुआ। ब्रह्मा जी सोचने लगे कि साधारण आदमी के पास तो एक ही सिर और दो ही हाथ हैं लेकिन मैं तो चार हाथ और चार मुखवाला हूं। इतने में एक आंधी आयी और ब्रह्माजी को उड़ा ले गयी। वे उड़कर ऊपर आकाश में गये। आकाश में उनको एक लोक मिला। वहां के ब्रह्माजी के आठ मुख और आठ हाथ थे। उनको जब चार हाथवाले ब्रह्मा जी ने देखा तो उनका अहंकार चूर हो गया।

अब आठ हाथवाले ब्रह्मा को अहंकार हुआ कि देखो इस ब्रह्मा के पास तो केवल चार ही हाथ और चार ही मुख है लेकिन मेरे पास तो आठ मुख और आठ हाथ हैं। वहां भी आंधी आयी और उस आंधी में वे भी उड़े और एक दूसरे लोक में जा पहुंचे। जिस लोक में वे पहुंचे तो वहां के ब्रह्मा जी के सोलह मुख और सोलह हाथ थे। उनको देखकर आठ हाथवाले ब्रह्माजी का अहंकार चूर-चूर हो गया।

इसप्रकार खूब कल्पना की गयी है और कल्पना करते-करते कई हजार हाथ और कई हजार मुखवाले ब्रह्मा की कल्पना की गयी है और उन सबको अहंकार आया। फिर उनको अधिक-अधिक मुख और हाथ वाले ब्रह्मा के पास पहुंचाया गया है और इस प्रकार उन सबके अहंकार को चूर करवाया गया है। यह एक कल्पना है और बातों को समझाने के लिए कहा गया है। अहंकार तो सबका चूर होना ही है, रहनेवाला कहां है। सबका मन उलझा हुआ है। हम मन को उलझाते हैं और मन हमको उलझाता है। गलत काम करके हम मन को उलझा देते हैं और फिर उससे हमारे में उलझाव आ जाता है।

एक व्यक्ति ने किसी की हत्या कर दी। वह सोते-सोते जग जाये और उसी का नाम लेने लग जाये कि वह हमें मारने आता है। उसको नींद नहीं आती है। अब थोड़ी-सी उत्तेजना में पड़कर उसने अपने मन को उलझा दिया और मन अब उसे उलझा दिया।

आपने तम्बाकू खाने की, बीड़ी-सिगरेट पीने की आदत करके मन को उलझा दिया और अब मन ने आपको उलझा दिया। अब आप बिना बीड़ी-सिगरेट पीये रह नहीं पाते हैं। इसलिए भाई, अगर मन को बिगाड़ोगे तो मन खूब कसकर बदला लेगा और अच्छी तरह से आपकी नाक रगड़ेगा। इसलिए मन को कहीं उलझाएं न और न दुर्व्यसन में ही डालें। अपने मन को न बीबी-बच्चों में उलझायें न पद-परिवार में उलझायें, न चेला-शिष्यों में उलझायें, कहीं भी न उलझायें। उसको सबमें से निकालकर रखें।

कल्याण-साधना मार्ग में जितनी भी विघ्न-बाधाएं आयें उनको सहें। साधु-संगति में भी विघ्न है। जहां कुछ साधु है मान लो दस हैं, पचास हैं, वहां ऐसे भी आ सकते हैं जो साधु के वेष में साधु नहीं है। साधु में उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तो होते ही हैं और ऐसा होना कोई बुरा नहीं है क्योंकि समाज है तो उसमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ रहेंगे ही। कोई कनिष्ठ है तो उसका अर्थ अपराधी नहीं होता। कनिष्ठ का अर्थ होता है कि अभी वह आगे नहीं पहुंचा है लेकिन सीधे रास्ते में चल रहा है। हां, कोई उलटा है तब बुरा है और ऐसे भी वेषधारी आ जाते हैं जो उलटे होते हैं। तत्काल तो उनको समझ पाना बड़ा कठिन होता है और कितने लोग तो काफी दिनों के बाद समझ मिलते हैं। नीति में मैंने एक बार पढ़ा था कि सज्जन को समझना सरल है क्योंकि सज्जन अंदर और बाहर से साफ होता है लेकिन दुर्जन को समझना बड़ा कठिन होता है क्योंकि वह बड़ा विकट होता है। वह अंदर से काला होता है और ऊपर से बड़ा साफ होता है। इसलिए उसको समझने में बहुत देरी लगती है।

साधु वेष में भी ऐसे कुछ लोग आ जाते हैं जो साधु नहीं होते हैं बल्कि वे साधुता के उलटे होते हैं। अब ऐसी बात किसी ने देखी और वह कहे कि "अरे बहुत जने का हम देखिन। सब ऐसे तो हैं। कोई साधु-वाधु नहीं है।" तो हो गयी उसकी भक्ति। आप खराब लोगों को देखे हैं लेकिन अच्छे लोगों को देखिये। आप ही के घर में कुछ उत्पाती हैं तो क्या करोगे। ऐसा कहीं भी देख लो कि ऐसे भी हो सकते हैं। इसलिए जो गलत हैं उन गलत लोगों को देखकर क्षोभित हो जाने से वह साधना में नहीं चल सकता है।

खोटे भी सब जगह मिलेंगे और अच्छे तो हैं ही। इसलिए विघ्न-बाधाएं जो आती हैं उनको सहना होगा। बुरे को त्यागना होगा। श्रद्धा और विवेक को स्थिर रखने के लिए सत्संग की बड़ी आवश्यकता है। सत्संग, सत्शास्त्रों का स्वाध्याय, मनन-चिंतन होता रहे, समय को बरबाद न करें।

लोग समय बरबाद कर देते हैं। जो शारीरिक जीवन का काम है वह तो करें लेकिन व्यर्थ बकवास करके समय को बरबाद न करें, उत्तेजना में न पड़ें। आजकल उत्तेजना और बढ़ गयी है। जहां चार लोग बैठेंगे वहीं बात शुरू हो जायेगी और उत्तेजना में आ जायेंगे। इससे अपना व्यवहार भी खराब हो जाता है। इसलिए उत्तेजना में न आयें और शांतिवाली बात करें जिससे समता और शांति मिले। इतनी ही बातें करें, नहीं तो छोड़ दें और मौन रहें।

राजनेता लोग देश को उलझाते हैं। हम लोग सामाजिक प्राणी हैं, राजनेता नहीं हैं। हम लोगों को चाहिए कि समाज में अमृत घोलें। राजनेता तो सदैव दुनिया को बेवकूफ बनाकर अपना उल्लू सीधा किये हैं। हर राजनेता करीब-करीब यही करता है, अब कोई कम करता है कोई ज्यादा करता है। लेकिन कोई देश बिना राजनेता के नहीं चलेगा इसलिए राजनेताओं की जरूरत है। लेकिन सामान्य लोगों को राजनेता होने से बचना भी चाहिए। जो कल्याण चाहे वह राजनीति से दूर रहे और राजनीतिक चर्चा करके अपने समय को बरबाद न करे। सामाजिक चर्चा अगर हो तो थोड़ा कर ले और सामाजिक शांति और आध्यात्मिक शांति के लिए काम करे।

एक भण्डारी है और वह दूसरे भण्डारी की बात सोचने लगे और दूसरे भण्डारी से बातें करने लगे तो दोनों भण्डार का काम नहीं कर पायेंगे। अपना भी नहीं होगा और दूसरे का भी नहीं होगा। व्यर्थ का बकवास शुरू किये तो समय बरबाद हो जाता है। इसलिए समय व्यर्थ में बरबाद न हो। अपने एक-एक क्षण का अच्छा उपयोग करें और अपने मन को संभालें। जीवन में अंत में असली पूंजी यही रहेगी कि मन पवित्र है कि गंदा है। पवित्र मन है तो असली पूंजी कमा ली और कहीं गंदा है, उलटा है तो अपने को हमने खो दिया।

संत ईसा ने कहा है कि जो सबको पाया और अपने को खो दिया उसने क्या पाया। अपने को पाना ही असली काम है और अपने को पाने का अर्थ यही है कि मन संतुलित हो। मन संतुलित है तो अपने आप में आश्वस्त और अपने आप में संतुष्ट हैं और यही सच्चा धन है।

हीरे और जवाहरातों का जखीरा चारों तरफ फैला हो लेकिन मन उलझा हो तो वह हीरे-मोती किस काम के। मन हमारा शीतल हो और हम साधारण साधक के रूप में ही रहें तो रोटी-कपड़ा, निवास इतना तो मिल ही जायेगा। यदि इतना भी न मिले तब तो नहीं चलेगा। मुंशी प्रेमचन्द ने लिखा है कि मैं और ज्यादा कुछ नहीं चाहता। रोटी-दाल चाहता हूं और दाल में थोड़ा-सा घी चाहता हूं। बस इतना मिल जाये तो कुछ और की जरूरत नहीं है और उन्होंने जीवन भी ऐसा ही जीया। कितने-कितने प्रलोभन आते थे लेकिन वे उसमें नहीं गये क्योंकि भारत को आजाद करने की भी उनकी मनसा थी। उनका समाजवादी दृष्टिकोण था। इसलिए मैं भी कहता हूं कि रोटी मिल जाये, कपड़ा मिल जाये और रहने के लिए कुछ जगह मिल जाये तब बस काफी है। यह परमावश्यक है कि अपने मन को उलझायें न। यही असली पूंजी है। मन की तृप्ति, मन की शांति ही जीवन की असली पूंजी है और बिना मन की स्वच्छता के वह सम्भव नहीं है।

सब लोगों को चाहिए कि भौतिक उन्नति में अपने को डुबायें न। भौतिक उन्नति तो कर रहे हैं और वह हो भी रही है। जीवन चल ही तो रहा है। आत्मिक उन्नति पर जोर डालें जिससे अपने जीवन में शांति हो। जब जीवन में शांति होगी तो दूसरे के भी शांति में कारण बन सकते हैं। जब हमारा ही जीवन शांत नहीं होगा तब दूसरों को हम क्या शांति देंगे। इसलिए साहेब की साखी को पुनः मनन कीजिए जिसे मैंने शुरू में कहा—

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
कहहिं कबीर ते बांचिहैं, जाके हृदय विवेक॥

बहुत-से असावधान लोग इस मन-समुद्र की इच्छा-तरंगों में डूब गये हैं। वही इनसे बचेगा जिसके हृदय में विवेक होगा। इसलिए अपने में विवेक जाग्रत करना चाहिए और मन की धारा से अपने आपको बचाना चाहिए। इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपनी वाणी को विराम देता हूं। ❑